

Chapter सात

दक्ष द्वारा यज्ञ सम्पन्न करना

मैत्रेय उवाच

इत्यजेनानुनीतेन भवेन परितुष्यता ।
अभ्यधायि महाबाहो प्रहस्य श्रूयतामिति ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; अजेन—ब्रह्मा द्वारा; अनुनीतेन—शान्त किया जाकर; भवेन—शिव द्वारा; परितुष्यता—पूर्णतया सन्तुष्ट होकर; अभ्यधायि—कहा; महा-बाहो—हे विदुर; प्रहस्य—हँस कर; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार ।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे महाबाहु विदुर, भगवान् ब्रह्मा के शब्दों से शान्त होकर शिव ने उनकी प्रार्थना का उत्तर इस प्रकार दिया ।

महादेव उवाच

नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये ।
देवमायाभिभूतानां दण्डस्तत्र धृतो मया ॥ २ ॥

शब्दार्थ

महादेवः—शिव ने; उवाच—कहा; न—नहीं; अघम्—पाप; प्रजा-ईश—हे प्रजापति; बालानाम्—बच्चों का; वर्णये—सत्कार करता हूँ; न—नहीं; अनुचिन्तये—मानता हूँ; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के; अभिभूतानाम्—द्वारा ठगे हुआ का; दण्डः—डंडा; तत्र—वहाँ; धृतः—प्रयुक्त; मया—मेरे द्वारा ।

शिवजी ने कहा : हे पूज्य पिता ब्रह्माजी, मैं देवताओं द्वारा किये गये अपराधों की परवाह नहीं करता। चूँकि ये देवता बालकों के समान अल्पज्ञानी हैं, अतः मैं उनके अपराधों पर गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं कर रहा हूँ। मैंने तो उन्हें राह पर लाने के लिए ही दण्डित किया है।

तात्पर्य : दण्ड दो प्रकार का होता है। एक तो वह जो विजेता अपने शत्रु को देता है और दूसरा वह जो पिता अपने पुत्र को देता है। दोनों प्रकार के इन दण्डों में जमीन-आसमान का अन्तर है। भगवान् शिव स्वभाव से वैष्णव हैं और इसलिए उनको आशुतोष कहा जाता है। वे सदैव प्रसन्न रहते हैं, अतः वे शत्रु की भाँति तनिक भी क्रुद्ध नहीं हुए। वे किसी के भी शत्रु नहीं, वरन् वे सबों के शुभचिन्तक हैं। जब भी वे किसी को दण्ड देते हैं, तो उसी प्रकार देते हैं जिस तरह पिता पुत्र को दण्डित करता है। शिवजी पिता तुल्य हैं, क्योंकि वे किसी जीवात्मा के, विशेष रूप से देवताओं के, अपराधों को गम्भीरता से नहीं लेते।

प्रजापतेर्दग्धशीर्ष्णो भवत्वजमुखं शिरः ।
मित्रस्य चक्षुषेक्षेत भागं स्वं बर्हिषो भगः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष का; दग्ध-शीर्ष्णः—जिसका सिर जलकर राख हो गया है; भवतु—हो जाए; अज-मुखम्—बकरे के मुँह से युक्त; शिरः—सिर; मित्रस्य—मित्र के; चक्षुषा—नेत्रों से; ईक्षेत—देखे; भागम्—भाग; स्वम्—अपना; बर्हिषः—यज्ञ का; भगः—भग ।

शिव ने आगे कहा : चूँकि दक्ष का सिर पहले ही जल कर भस्म हो चुका है, अतः उसे बकरे का सिर प्राप्त होगा। भग नामक देवता, मित्र के नेत्रों से यज्ञ का अपना भाग देख सकेगा।

पूषा तु यजमानस्य दद्विर्जक्षतु पिष्टभुक् ।
देवाः प्रकृतसर्वाङ्गा ये म उच्छेषणं ददुः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

पूषा—पूषा; तु—लेकिन; यजमानस्य—यज्ञकर्ता का; दद्विः—दाँतों से; जक्षतु—चबाए; पिष्ट-भुक्—आटे का भोजन; देवाः—देवता; प्रकृत—निर्मित; सर्व-अङ्गाः—पूर्ण; ये—जो; मे—मुझको; उच्छेषणम्—यज्ञ भाग; ददुः—दिया।

पूषादेव अपने शिष्यों के दाँतों से चबायेंगे और यदि अकेले चाहें तो उन्हें सत्तू की बनी लोई खाकर सन्तुष्ट होना पड़ेगा। किन्तु जिन देवताओं ने मेरा यज्ञ-भाग देना स्वीकार कर लिया है वे सभी प्रकार की चोटों से स्वस्थ हो जाएँगे।

तात्पर्य : पूषादेव को चबाने के लिए अपने शिष्य पर निर्भर होना पड़ा, अन्यथा उसे चने के आटे की लोई खाने को मिलती। इस प्रकार उसका दण्ड चालू रहा। वह खाने के लिए अपने दाँतों का उपयोग नहीं कर सका, क्योंकि वह शिवजी पर हँसा था और उसने दाँत दिखा कर उनका मजाक उड़ाया था। दूसरे शब्दों में, शिव के विरुद्ध दाँतों का प्रयोग करने के कारण उसके दाँत न रहने देना ही श्रेयस्कर था।

बाहुभ्यामश्विनोः पूष्णो हस्ताभ्यां कृतबाहवः ।
भवन्त्वध्वर्यवश्चान्ये बस्तश्मश्रुभृगुर्भवेत् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

बाहुभ्याम्—दो भुजाओं से; अश्विनोः—अश्विनी कुमारी की; पूष्णः—पूषा के; हस्ताभ्याम्—दो हाथों से; कृत-बाहवः—बाहुओं की इच्छा रखने वाले; भवन्तु—हों; अध्वर्यवः—पुरोहितगण; च—तथा; अन्ये—अन्य; बस्त-श्मश्रुः—बकरे की दाढ़ी; भृगुः—भृगु; भवेत्—उसके हों।

जिन लोगों की भुजाएँ कट गई हैं, उन्हें अश्विनी कुमार की बाहों से काम करना होगा और जिनके हाथ कट गये हैं उन्हें पूषा के हाथों से काम करना होगा। पुरोहितों को भी तदनुसार कार्य करना होगा। जहाँ तक भृगु का प्रश्न है, उन्हें बकरे की दाढ़ी प्राप्त होगी।

तात्पर्य : दक्ष के कहर समर्थक भृगु मुनि को उस बकरे की दाढ़ी मिली जिसका सिर दक्ष को मिला था। दक्ष के सिर के विनिमय से ऐसा लगता है कि यह आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त ठीक नहीं है कि मस्तिष्क ही बुद्धिमत्ता वैज्ञानिक का कारण है। दक्ष तथा बकरे के मस्तिष्क भिन्न-भिन्न पदार्थों के हैं, तो भी दक्ष अपनी तरह कार्य करता रहा, यद्यपि उसके बकरे का सिर लगा दिया गया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी व्यक्ति की चेतना विशेष ही कार्य करती है। मस्तिष्क पदार्थ निमित्तमात्र है, जिसका वास्तविक बुद्धि से कोई सरोकार नहीं। वास्तविक बुद्धि, मन तथा चेतना व्यक्ति विशेष के अंश हैं। अगले श्लोकों से पता लगेगा कि दक्ष के सिर के स्थान पर बकरे का सिर लगने से वह पहले की ही भाँति बुद्धिमान था। उसने अत्यन्त सुन्दर ढंग से शिव तथा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना की, जो बकरे के लिए सम्भव नहीं है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्धि का केन्द्र मस्तिष्क-पदार्थ नहीं है। यह तो आत्मा विशेष की चेतना है, जो बुद्धिपूर्वक कार्य करती है। समग्र कृष्णभावनामृत-आन्दोलन चेतना की शुद्धि के लिए है। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि किसी का मस्तिष्क कैसा है, क्योंकि यदि वह अपनी चेतना को पदार्थ से कृष्ण में स्थानान्तरित कर देता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* में की है कि जो कोई कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है, वह जीवन की उच्चतम सिद्धि प्राप्त करता है, भले ही वह कितने ही निकृष्ट जीवन में पतित क्यों न चुका हो। विशेष रूप से यदि कोई कृष्णभावनाभावित होता है, तो वह अपने इस भौतिक शरीर को त्यागकर भगवान् के धाम को जाता है।

मैत्रेय उवाच

तदा सर्वाणि भूतानि श्रुत्वा मीढुष्टमोदितम् ।
परितुष्टात्मभिस्तात साधु साध्वित्यथाब्रुवन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; तदा—उस समय; सर्वाणि—समस्त; भूतानि—मनुष्य; श्रुत्वा—सुनकर; मीढुः—तम—वर देने वालों में श्रेष्ठ (शिव); उदितम्—कहा गया; परितुष्ट—सन्तुष्ट होकर; आत्मभिः—हृदय तथा आत्मा से; तात—हे विदुर; साधु साधु—धन्य-धन्य हुआ; इति—इस प्रकार; अथ अब्रुवन्—जैसा हम कह चुके हैं।

मैत्रेय मुनि ने कहा : हे विदुर, वहाँ पर उपस्थित सभी मनुष्य सर्वश्रेष्ठ वरदाता शिव के वचनों को सुनने से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर गदगद हो गये।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिव को *मीढुष्टम* अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वरदाता कहा गया है। उन्हें आशुतोष भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है कि वे बहुत जल्दी प्रसन्न होने वाले और जल्दी क्रुद्ध होने वाले हैं। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि अल्पज्ञ व्यक्ति भौतिक वरदानों के लिए देवताओं के पास जाते हैं। इसके लिए सामान्यतः लोग शिव के पास जाते हैं, जो भक्तों पर जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, और उन्हें बिना विचारे वर दे देते हैं, अपने अतः वे *मीढुष्टम* कहे गये हैं। सांसारिक व्यक्ति सदैव भौतिक लाभ के लिए उत्सुक रहते हैं किन्तु उन्हें आत्मिक लाभ से कोई प्रयोजन नहीं रहता।

निस्सन्देह, कभी-कभी भगवान् शिव आध्यात्मिक जीवन के सर्वश्रेष्ठ वरदाता बन जाते हैं। कहा जाता है कि एक बार एक दरिद्र ब्राह्मण ने शिव की पूजा किसी वर के लिए की और शिवजी ने उस भक्त को सलाह दी कि वह सनातन गोस्वामी के पास जाए। वह भक्त उनके पास गया और उन्हें बताया कि शिवजी ने कहा है कि मैं आपसे अच्छा से अच्छा वरदान माँगूँ। सनातन के पास एक पारस पत्थर था, जिसे वे कूड़े में रख आये थे। उस दरिद्र ब्राह्मण की प्रार्थना पर उन्होंने उसे वह पारस पत्थर दे दिया तो इससे वह ब्राह्मण अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह लोहे में उसे छुआ कर जितना भी सोना चाहता बना सकता था। किन्तु सनातन के पास से जाने के बाद उसने सोचा, “यदि पारस पत्थर ही सर्वश्रेष्ठ वरदान था, तो सनातन गोस्वामी ने इसे कूड़े में क्यों रखा था?” अतः उसने उसे लौटाते हुए सनातन गोस्वामी से कहा, “महोदय, यदि यह सर्वश्रेष्ठ वरदान है, तो आपने इसे कूड़े में क्यों छिपा रखा था?” तब सनातन गोस्वामी ने बताया, “वास्तव में यह सर्वश्रेष्ठ वर नहीं है। तो क्या तुम मुझ से सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करना चाहते हो?” ब्राह्मण ने कहा, “हाँ, शिव ने मुझे आपके पास सर्वश्रेष्ठ वर प्राप्त करने के लिए भेजा है।” तब सनातन गोस्वामी ने उससे कहा कि वह पास के जलाशय में उस पारस पत्थर को फेंक कर वापस आए। उस ब्राह्मण ने वैसा ही किया और जब वह लौटा तो उसे उन्होंने हरे-कृष्ण मंत्र से दीक्षित किया। इस प्रकार शिव के वर से ब्राह्मण को भगवान् कृष्ण के सर्वश्रेष्ठ भक्त की

संगति मिली और वह हरे-कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, महामंत्र में दीक्षित हो गया।

ततो मीढ्वांसमामन्त्र्य शुनासीराः सहर्षिभिः ।
भूयस्तद्देवयजनं समीढ्वद्वेधसो ययुः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; मीढ्वांसम्—शिव; आमन्त्र्य—बुलाकर; शुनासीराः—इन्द्र इत्यादि देवता; सह ऋषिभिः—भृगु इत्यादि ऋषियों सहित; भूयः—पुनः; तत्—उस; देव-यजनम्—वह स्थान जहाँ देवता पूजे जाते हैं; स-मीढ्वत्—शिव समेत; वेधसः—ब्रह्मा सहित; ययुः—गये।

तब मुनियों के प्रमुख भृगु ने शिवजी को यज्ञशाला में पधारने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह से ऋषिगण, शिवजी तथा ब्रह्मा समेत सभी देवता उस स्थान पर गये जहाँ वह महान् यज्ञ सम्पन्न हो रहा था।

तात्पर्य : दक्ष द्वारा आयोजित सारा यज्ञ शिव द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया था। अतः वहाँ पर उपस्थित समस्त देवताओं ने ब्रह्मा तथा ऋषियों समेत शिवजी से विशेष अनुरोध किया कि वे वहाँ पधार कर यज्ञ-अग्नि को पुनः प्रज्वलित करें। एक सामान्य कहावत है शिव-हीन-यज्ञ जिसका अर्थ है “शिव के बिना कोई भी यज्ञ असफल रहता है।” भगवान् विष्णु यज्ञेश्वर हैं, तो भी प्रत्येक यज्ञ में आवश्यक होता है कि सभी देवता, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव प्रमुख हैं, उपस्थित हों।

विधाय कात्स्न्येन च तद्यदाह भगवान्भवः ।
सन्दधुः कस्य कायेन सवनीयपशोः शिरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

विधाय—सम्पन्न करके; कात्स्न्येन—सर्वेसर्वा; च—भी; तत्—वह; यत्—जो; आह—कहा गया; भगवान्—भगवान्; भवः—शिव ने; सन्दधुः—सम्पन्न किया; कस्य—जीवित (दक्ष) का; कायेन—शरीर से; सवनीय—यज्ञ के निमित्त; पशोः—पशु का; शिरः—सिर।

जब शिवजी के निर्देशानुसार सब कुछ सम्पन्न हो गया तो यज्ञ में वध के निमित्त लाए पशु के सिर को दक्ष के शरीर से जोड़ दिया गया।

तात्पर्य : इस बार सभी देवता तथा ऋषि सावधान थे कि शिवजी क्रुद्ध न होने पाएँ। अतः उन्होंने जो कहा वही किया गया। यहाँ पर यह विशेष रूप से बताया गया है कि दक्ष के शरीर को पशु

(बकरे) के सिर के साथ जोड़ दिया गया।

सन्धीयमाने शिरसि दक्षो रुद्राभिवीक्षितः ।

सद्यः सुप्त इवोत्तस्थौ ददृशे चाग्रतो मृडम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सन्धीयमाने—सम्पन्न होने पर; शिरसि—सिर से; दक्षः—राजा दक्ष; रुद्र-अभिवीक्षितः—रुद्र द्वारा देखे जाने पर; सद्यः—तुरन्त; सुप्ते—सोया हुआ; इव—समान; उत्तस्थौ—जगाया जाकर; ददृशे—देखा; च—भी; अग्रतः—समक्ष; मृडम्—शिव को।

जब दक्ष के शरीर पर पशु का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को तुरन्त ही होश आ गया और ज्योंही वह निद्रा से जगा, तो उसने अपने समक्ष शिवजी को खड़े देखा।

तात्पर्य : यहाँ पर यह उदाहरण दिया गया है कि दक्ष उठकर खड़ा हुआ, मानो उसे गहरी नींद से जगाया गया हो। इसे ही संस्कृत में *सुप्त इवोत्तस्थौ* कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि निद्रा से जगने पर मनुष्य को तुरन्त स्मरण हो आता है कि उसे क्या करना है। दक्ष का वध किया गया था और उसका सिर काट कर जला दिया गया था। उसका शरीर मृत पड़ा था, किन्तु शिव की कृपा से, ज्योंही उसके शरीर में बकरे का सिर जोड़ दिया गया, दक्ष पुनः चेतन हो उठा। इससे यह सूचित होता है कि चेतना भी व्यष्टि होती है। वास्तव में जब दक्ष के बकरे का सिर लगा दिया गया तो दक्ष को दूसरा शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु चेतना व्यक्तिगत होने से उसे पूर्ववत् चेतना प्राप्त हो गई, यद्यपि उसका शरीर बदल गया था। इस तरह शारीरिक संरचना का चेतना के विकास से कोई सरोकार नहीं रहता। चेतना तो आत्मा के देहान्तर के साथ ले जायी जाती है। वैदिक इतिहास में इसके कई उदाहरण मिलते हैं, यथा महाराज भरत जिन्हें अपना राजा का शरीर त्यागने के बाद मृग का शरीर प्राप्त हुआ, किन्तु उनकी चेतना पूर्ववत् बनी रही। उन्हें यह ज्ञात था कि वे पूर्वजन्म में राजा भरत थे, और उनका शरीर हिरण के शरीर में स्थानान्तरित हुआ था, क्योंकि मृत्यु के समय वे मृग के चिन्तन में लीन थे। मृग का शरीर होते हुए भी उनकी चेतना उतनी ही अच्छी थी जितनी कि राजा भरत के शरीर में। भगवान् की यह व्यवस्था इतनी उत्तम है कि यदि किसी की चेतना कृष्णचेतना में परिणत हो जाये तो इसमें सन्देह नहीं है कि अगले जीवन में भले ही उसे भिन्न प्रकार की देह प्राप्त हो, किन्तु वह महान् कृष्ण-भक्त होगा।

तदा वृषध्वजद्वेषकलिलात्मा प्रजापतिः ।

शिवावलोकादभवच्छरद्धृद इवामलः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; वृष-ध्वज—शिव, जो बैल पर सवार रहते हैं; द्वेष—ईर्ष्या; कलिल-आत्मा—दूषित हृदय; प्रजापतिः—राजा दक्ष; शिव—शिव को; अवलोकात्—देखने से; अभवत्—हो गया; शरत्—शरद ऋतु में; हृदः—झील; इव—सदृश; अमलः—निर्मल, स्वच्छ।

उस समय जब दक्ष ने बैल पर सवारी करने वाले शिव को देखा तो उसका हृदय, जो शिव के प्रति द्वेष से कलुषित था, तुरन्त निर्मल हो गया, जिस प्रकार सरोवर का जल शरदकालीन वर्षा से स्वच्छ हो जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि शिवजी मंगलकारी क्यों कहलाते हैं। जो कोई शिव को भक्ति भाव से तथा आदरपूर्वक देखता है, उसका हृदय निर्मल हो जाता है। राजा दक्ष का हृदय शिव के प्रति द्वेष से दूषित था, अतः जब उसने थोड़े प्रेम तथा भक्ति के साथ शिव को देखा तो उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया। वर्षा ऋतु में जलाशय गँदले हो जाते हैं, किन्तु जब शरदकाल में वर्षा होती है, तो सारा जल तुरन्त निर्मल तथा पारदर्शी हो जाता है। इसी प्रकार दक्ष का हृदय, यद्यपि शिवजी को अपमानित करने से अशुद्ध था, और जिसके कारण उसे दण्डित होना पड़ा था, किन्तु अब दक्ष को चेत हो चुका था, अतः शिव को श्रद्धापूर्वक देखते ही उसका हृदय तुरन्त स्वच्छ हो गया।

भवस्तवाय कृतधीर्नाशक्नोदनुरागतः ।

औत्कण्ठ्याद्बाष्पकलया सम्प्रेतां सुतां स्मरन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

भव-स्तवाय—शिव की स्तुति के लिए; कृत-धीः—कृतसंकल्प; न—नहीं ही; अशक्नोत्—समर्थ था; अनुरागतः—विचार से; औत्कण्ठ्यात्—उत्कंठा से; बाष्प-कलया—आँखों में आँसू भर कर; सम्प्रेताम्—मृत; सुताम्—पुत्री; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

राजा दक्ष ने शिव की स्तुति करनी चाही, किन्तु अपनी पुत्री सती की दुर्भाग्यपूर्ण-मृत्यु का स्मरण हो आने से उसके नेत्र आँसुओं से भर आये और शोक से उसकी वाणी अवरुद्ध हो गई। वह कुछ भी न कह सका।

कृच्छ्रात्संस्तभ्य च मनः प्रेमविह्वलितः सुधीः ।

शशंस निर्व्यलीकेन भावेनेशं प्रजापतिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कृच्छ्रात्—बड़े यत्न से; संस्तभ्य—शान्त करके; च—भी; मनः—मन; प्रेम-विह्वलितः—प्रेम से विभोर; सु-धीः—जिसे चेत हो आया हो; शशांस—प्रशंसा की; निर्व्यलीकेन—बिना द्वैत के, अथवा अत्यन्त प्यार से; भावेन—विचार में; ईशम्—शिव की; प्रजापतिः—राजा दक्ष।

उस समय प्रेम-विह्वल होने से राजा दक्ष अत्यधिक जागरूक हो उठा। उसने बड़े ही यत्न से अपने मन को शान्त किया, अपने भावावेग को रोका और शुद्ध चेतना से शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

दक्ष उवाच

भूयाननुग्रह अहो भवता कृतो मे
दण्डस्त्वया मयि भृतो यदपि प्रलब्धः ।
न ब्रह्मबन्धुषु च वां भगवन्नवज्ञा
तुभ्यं हरेश्च कुत एव धृतव्रतेषु ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

दक्षः उवाच—दक्ष ने कहा; भूयान्—अत्यधिक; अनुग्रहः—कृपा; अहो—ओह; भवता—आपके द्वारा; कृतः—की गई; मे—मुझपर; दण्डः—दण्ड, सजा; त्वया—आपके द्वारा; मयि—मुझको; भृतः—की गई; यत् अपि—यद्यपि; प्रलब्धः—पराजित; न—न तो; ब्रह्म-बन्धुषु—अयोग्य ब्राह्मण को; च—भी; वाम्—तुम दोनों; भगवन्—मेरे स्वामी; अवज्ञा—अनादर; तुभ्यम्—आपका; हरेः च—विष्णु का; कुतः—कहाँ; एव—निश्चय ही; धृत-व्रतेषु—यज्ञ करने में दत्तचित्त।

राजा दक्ष ने कहा : हे शिव, मैंने आपके प्रति बहुत बड़ा अपराध किया है, किन्तु आप इतने उदार हैं कि आपने अपने अनुग्रह से वंचित करने के बजाय, मुझे दण्ड देकर मेरे ऊपर कृपा की है। आप तथा भगवान् विष्णु अयोग्य-निकम्मे ब्राह्मणों तक की उपेक्षा नहीं करते तो फिर भला आप मेरी उपेक्षा क्यों करने लगे, मैं तो यज्ञ करने में लगा रहता हूँ?

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष अपने को पराजित मान रहा था, किन्तु वह जानता था कि यह दण्ड शिवजी की महान् कृपा थी। उसे स्मरण हो आया कि शिव तथा विष्णु कभी भी ब्राह्मणों की उपेक्षा नहीं करते, भले ही ब्राह्मण अयोग्य क्यों न हों; वैदिक सभ्यता के अनुसार ब्राह्मण कुल के वंशज को कभी कठोर दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अश्वत्थामा के साथ अर्जुन का व्यवहार है। अश्वत्थामा महान् ब्राह्मण द्रोणाचार्य का पुत्र था और जिसने पाण्डवों के सभी पुत्रों की सोये हुए में हत्या करने का घोर अपराध किया था, और जिसके लिए श्रीकृष्ण ने भी भर्त्सना की थी, तो भी अर्जुन ने उसका वध नहीं किया, क्योंकि वह ब्राह्मण-पुत्र था। यहाँ पर प्रयुक्त ब्रह्म-बन्धुषु शब्द अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो ब्राह्मण-पिता से उत्पन्न हो, किन्तु जिसके कर्म ब्राह्मणों के स्तर के अनुकूल न हों। ऐसा व्यक्ति ब्राह्मण न होकर ब्रह्म-बन्धु होता है। दक्ष ने अपने को ब्राह्मण-बन्धु सिद्ध कर दिया था। वह एक महान् ब्राह्मण पिता ब्रह्मा का पुत्र था, किन्तु शिव के प्रति उसका आचरण ब्राह्मणों जैसा न था, इसलिए उसने स्वीकार किया कि वह पूर्ण ब्राह्मण न था। किन्तु शिव तथा विष्णु तो अपूर्ण ब्राह्मणों के प्रति भी वत्सल रहते हैं। शिव ने दक्ष को शत्रु मानकर दण्डित नहीं किया था, वरन् उन्होंने उसे सन्मार्ग में लाने के लिए दण्ड दिया था जिससे उसे पता चले कि उसने बुरा काम किया था। दक्ष को इसका आभास हुआ और उसने भगवान् श्रीकृष्ण तथा शिव की पतित ब्राह्मणों के प्रति, जिसमें वह भी सम्मिलित था, महती कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट की। यद्यपि वह पतित हो चुका था, किन्तु उसने यज्ञ करने का व्रत ले रखा था, जो कि ब्राह्मण का कर्तव्य है और इस प्रकार उसने शिव की स्तुति करनी प्रारम्भ की।

विद्यातपोव्रतधरान्मुखतः स्म विप्रान्

ब्रह्मात्मतत्त्वमवितुं प्रथमं त्वमस्त्राक् ।

तद्ब्राह्मणान्परम सर्वविपत्सु पासि

पालः पशूनिव विभो प्रगृहीतदण्डः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

विद्या—विद्या; तपः—तपस्या; व्रत—व्रत; धरान्—अनुचर; मुखतः—मुख से; स्म—था; विप्रान्—ब्राह्मण; ब्रह्मा—ब्रह्मा; आत्म-तत्त्वम्—आत्म-साक्षात्कार; अवितुम्—फैलाने के लिए; प्रथमम्—पहले; त्वम्—तुम; अस्त्राक्—उत्पन्न किया; तत्—अतः; ब्राह्मणान्—ब्राह्मणों की; परम—हे महान; सर्व—सभी; विपत्सु—संकट में; पासि—रक्षा करते हो; पालः—रक्षक की तरह; पशून्—पशु; इव—समान; विभो—हे महान; प्रगृहीत—हाथ में धारण किये; दण्डः—डंडा।

हे महान् तथा शक्तिमान शिव, विद्या, तप, व्रत तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए ब्राह्मणों की रक्षा करने के हेतु ब्रह्मा के मुख से सर्वप्रथम आपकी उत्पत्ति हुई थी। आप ब्राह्मणों के पालक बनकर उनके द्वारा आचरित अनुष्ठानों की सदैव रक्षा करते हैं, जिस प्रकार ग्वाला गायों की रखवाली के लिए अपने हाथ में दण्ड धारण किये रहता है।

तात्पर्य : समाज में भले ही मनुष्य का सामाजिक पद कुछ भी हो, विशिष्ट मन तथा इन्द्रियों को वश में करने के लिए वैदिक शास्त्रों में वर्णित अनुष्ठानों को सम्पन्न करना है। शिव को पशुपति कहा जाता है क्योंकि वे जीवात्माओं की उन्नत चेतनाओं में रक्षा करते हैं, जिससे वे वर्ण तथा आश्रम की

वैदिक पद्धति का अनुसरण कर सकें। पशु शब्द से पशु तथा मनुष्य दोनों का बोध होता है। यह कहा जाता है कि शिवजी पशुओं तथा पाशविक वृत्ति वाली जीवात्माओं की, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं, सदा सदैव रक्षा करने में रुचि दिखाते हैं। यह भी कहा गया है कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति परमेश्वर के मुख से हुई। हमें यह सदा स्मरण रखना होगा कि शिव को भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि के रूप में सम्बोधित किया जाता है। वैदिक साहित्य में वर्णित है कि ब्राह्मण विष्णु के विराट रूप के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य उदर या कटिभाग से तथा शूद्र पाँवों से उत्पन्न हुए। शरीर की संरचना में सिर का प्रमुख महत्त्व रहता है। ब्राह्मण भगवान् के मुख से उत्पन्न हुए जिससे विष्णु की पूजा हेतु दान स्वीकार कर सकें और वैदिक ज्ञान का प्रसार कर सकें। शिव को पशुपति कहा जाता है। वे ब्राह्मणों तथा अन्य जीवात्माओं की रक्षा अब्राह्मणों या आत्म-साक्षात्कार के विरोधी असंस्कृत व्यक्तियों के हमलों से करते रहते हैं।

इस शब्द की दूसरी विशेषता यह है कि जो व्यक्ति वेदों के केवल अनुष्ठान सम्बन्धी अंश में लिप्त रहते हैं और भगवान् की स्थिति को नहीं समझ पाते, वे पशुओं से किसी प्रकार भी अधिक उन्नत नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में इसकी पुष्टि की गई है कि कोई भले ही वेदवर्णित अनुष्ठानों का पालन क्यों न करे, किन्तु यदि वह कृष्ण-चेतना विकसित नहीं करता तो वैदिक अनुष्ठानों को सम्पन्न करने में लगा उसका सारा श्रम समय का अपव्यय है। दक्ष के यज्ञ को विध्वंस करने के पीछे शिव का मन्तव्य उसे दण्डित करना था, क्योंकि उसने उनकी (शिव की) उपेक्षा करके महान् अपराध किया था। शिव द्वारा दिया गया दण्ड उस ग्वाले द्वारा दिये जाने वाले दण्ड के समान है, जो अपने पशुओं को डराने के लिए लाठी रखता है। यह आम कहावत है कि पशुओं की रक्षा के लिए लाठी चाहिए, क्योंकि पशुओं में विवेक और तर्कशक्ति नहीं होती। जब तक लाठी नहीं होगी वे आज्ञापालन नहीं करेंगे। पाशविक वृत्ति वाले मनुष्यों के लिए बल-प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जो उन्नत हैं, वे तर्कों तथा शास्त्रीय प्रमाणों से मान जाते हैं। जो लोग भक्ति में अथवा कृष्ण-चेतना प्रगति किये बिना वैदिक अनुष्ठानों का पालन-मात्र करते हैं, वे पशुतुल्य हैं और शिवजी पर ऐसे लोगों की रक्षा का भार है, जिससे वे कभी-कभी उन्हें दण्डित करते हैं, जिस प्रकार उन्होंने दक्ष को दण्डित किया।

योऽसौ मयाविदिततत्त्वदृशा सभायां
 क्षिप्तो दुरुक्तिविशिखैर्विगणय्य तन्माम् ।
 अर्वाक्पतन्तमर्हत्तमनिन्दयापाद्
 दृष्ट्यार्द्रया स भगवान्स्वकृतेन तुष्येत् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; असौ—उस; मया—मेरे द्वारा; अविदित-तत्त्व—वास्तविकता को जाने बिना; दृशा—अनुभव से; सभायाम्—सभा में; क्षिप्तः—गाली दिया गया; दुरुक्ति—कटु वचन रूपी; विशिखैः—बाणों से; विगणय्य—परवाह न करके; तत्—वह; माम्—मुझको; अर्वाक्—नीचे की ओर; पतन्तम्—नरक में गिरते हुए; अर्हत्-तम—सर्वाधिक पूज्य; निन्दया—निन्दा से; अपात्—बचा लिया; दृष्ट्या—देख कर; आर्द्रया—दयावश; सः—वह; भगवान्—भगवान्; स्व-कृतेन—अपनी कृपा से; तुष्येत्—प्रसन्न हो।

मैं आपकी समस्त कीर्ति से परिचित न था। अतः मैंने खुली सभा में आपके ऊपर कटु शब्द रूपी बाणों की वर्षा की थी, तो भी आपने उनकी कोई परवाह नहीं की। मैं आप जैसे परम पूज्य पुरुष के प्रति अवज्ञा के कारण नरक में गिरने जा रहा था, किन्तु आपने मुझ पर दया कर के और दण्डित करके मुझे उबार लिया है। मेरी प्रार्थना है कि आप अपने ही अनुग्रह से प्रसन्न हों, क्योंकि मुझमें वह सामर्थ्य नहीं कि मैं अपने शब्दों से आपको तुष्ट कर सकूँ।

तात्पर्य : जब भक्त पर विपत्ति आती है, तो वह प्रायः इसे भगवान् के अनुग्रह रूप में स्वीकार कर लेता है। वस्तुतः दक्ष ने शिव के प्रति जो अपमानजनक शब्द कहे थे, वे उसे सदा के लिए नरक में गिराने के लिए पर्याप्त थे। किन्तु उसके प्रति दयालु होने के कारण शिवजी ने उसके अपराध को निष्क्रिय करने के लिए दण्ड दिया। दक्ष ने इसको अनुभव किया और उनकी इस महानता के लिए अपने आप को उनका अनुग्रहीत समझा। कभी-कभी पिता बच्चे को दण्ड देता है और जब बच्चा बड़ा हो जाता है और समझ हो जाती है, तो वह यह समझता है कि उसके पिता ने जो दण्ड दिया था वह वास्तव में दण्ड न होकर दया थी। इसी प्रकार दक्ष ने शिव द्वारा दिये गये दण्ड को उनकी कृपा का प्रदर्शन समझा। ऐसे पुरुष का यह लक्षण है जो कृष्णभावनामृत के मार्ग पर अग्रसर होता है। कहा जाता है कि कृष्ण-भावनाभावित भक्त जीवन की किसी भी दयनीय अवस्था को श्रीभगवान् द्वारा की गई भर्त्सना नहीं मानता। वह दयनीय अवस्था को भगवत्कृपा मानकर ग्रहण करता है। वह सोचता है, “मैं अपने पूर्व दुष्कर्मों के कारण या तो दण्डित होता या इससे भी अधिक भयावह स्थिति में जा पड़ता, किन्तु भगवान् ने मेरी रक्षा कर ली। इस प्रकार कर्म के नियमानुसार मुझे थोड़ा सा ही दण्ड

मिला।” भगवान् की कृपा को इस प्रकार सोचकर भक्त भगवान् के समक्ष अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक आत्म-समर्पण करता है और तथाकथित दण्ड से तनिक भी विचलित नहीं होता।

मैत्रेय उवाच

क्षमाप्यैवं स मीढ्वांसं ब्रह्मणा चानुमन्त्रितः ।

कर्म सन्तानयामास सोपाध्यायत्विगादिभिः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; क्षमा—क्षमा; आप्य—प्राप्त करके; एवम्—इस प्रकार; सः—राजा दक्ष; मीढ्वांसम्—शिव को; ब्रह्मणा—ब्रह्मा सहित; च—भी; अनुमन्त्रितः—अनुमति पाकर; कर्म—यज्ञ; सन्तानयाम् आस—पुनः प्रारम्भ किया; स—सहित; उपाध्याय—विद्वान साधु; ऋत्विक्—पुरोहित; आदिभिः—इत्यादि के द्वारा।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार शिवजी द्वारा क्षमा कर दिये जाने पर राजा दक्ष ने ब्रह्मा की अनुमति से विद्वान साधुओं, पुरोहितों तथा अन्यो के साथ पुनः यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया।

वैष्णवं यज्ञसन्तत्यै त्रिकपालं द्विजोत्तमाः ।

पुरोडाशं निरवपन्वीरसंसर्गशुद्धये ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

वैष्णवम्—विष्णु या उनके भक्तों के हेतु; यज्ञ—यज्ञ; सन्तत्यै—कृत्यों के लिए; त्रि-कपालम्—तीन प्रकार की भेंटें; द्विज-उत्तमाः—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ; पुरोडाशम्—पुरोडाश नामक आहुतिनि; निरवपन्—भेंट की गई; वीर—वीरभद्र तथा शिव के अन्य अनुचर; संसर्ग—स्पर्श के कारण दोष; शुद्धये—शुद्धि के लिए।

तत्पश्चात् ब्राह्मणों ने यज्ञ कार्य फिर से प्रारम्भ करने के लिए वीरभद्र तथा शिव के भूत-प्रेत सदृश अनुचरों के स्पर्श से प्रदूषित हो चुके यज्ञ स्थल को पवित्र करने की व्यवस्था की। तब जाकर उन्होंने अग्नि में पुरोडाश नामक आहुतियाँ अर्पित की।

तात्पर्य : वीरभद्र आदि शिव के अनुचर तथा भक्त वीर कहलाते हैं और वे भूतप्रेतादि हैं। उन्होंने अपनी उपस्थिति से न केवल यज्ञस्थल को दूषित किया था, वरन् मलमूत्र विसर्जित करके सारी व्यवस्था भंग कर दी थी। फलतः सबसे पहले पुरोडाश आहुति देकर गंदगी को दूर करना था। कोई भी विष्णु-यज्ञ अशुद्ध अवस्था में सम्पन्न नहीं हो सकता। अशुद्ध अवस्था में कोई वस्तु भेंट करना सेवापराध कहलाता है। मन्दिर में विष्णु के विग्रह की पूजा भी विष्णु-यज्ञ है। अतः समस्त विष्णुमन्दिरों में, जो पुरोहित अर्चना-विधि की देखभाल करते हैं उन्हें शुद्ध रहना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को शुद्ध-स्वच्छ रखना चाहिए और भोजन भी शुद्धतापूर्वक पकाना चाहिए। इन सब विधि-विधानों का

वर्णन *भक्तिरसामृत सिन्धु* नामक पुस्तक में किया गया है। *अर्चना* सेवा करने में बत्तीस प्रकार के अपराध हो सकते हैं, अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन कार्यों में अशुद्ध न रहा जाय। सामान्यतः जब कोई अनुष्ठान प्रारम्भ किया जाता है, तो शुद्धि के लिए सर्वप्रथम भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का उच्चारण किया जाता है। कोई बाहर या भीतर से चाहे शुद्ध रहे या अशुद्ध रहे, यदि वह भगवान् विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन या स्मरण करता है, तो वह तुरन्त पवित्र हो जाता है। वीरभद्र इत्यादि शिव के अनुचरों की उपस्थिति के कारण यज्ञस्थल अपवित्र हो गया था, अतः सम्पूर्ण यज्ञस्थल को पवित्र करना पड़ा। यद्यपि शिव वहाँ पर थे और वे सर्व मंगलमय हैं, तो भी उस स्थान को पवित्र बनाना आवश्यक था, क्योंकि उनके अनुचरों ने बलपूर्वक वहाँ प्रवेश करके अनेक घृणित कार्य किये थे। शुद्धि का यह कार्य विष्णु के पवित्र नाम *त्रिकपाल* के उच्चारण से ही सकता था। जिससे तीनों लोक पवित्र किए जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में, यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि शिव के अनुचर सामान्य रूप से अपवित्र होते हैं। वे स्वच्छ भी नहीं रहते; वे नियमपूर्वक स्नान नहीं करते; वे लम्बे बाल रखते हैं और *गाँजा* पीते हैं। ऐसी अनियमित आदतों वाले पुरुषों की गिनती भूत-प्रेतों में होती है। चूँकि वे यज्ञस्थल पर उपस्थित थे, अतः वहाँ का वायुमण्डल दूषित हो चुका था और इसे *त्रिकपाल* आहुति द्वारा शुद्ध किया जाना था जिस का अर्थ है विष्णु के अनुग्रह का आवाहन करना।

अध्वर्युणात्तहविषा यजमानो विशाम्पते ।

धिया विशुद्धया दध्यौ तथा प्रादुरभूद्धरिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अध्वर्युणा—यजुर्वेद से; आत्त—लेकर; हविषा—घृत से; यजमानः—राजा दक्ष; विशाम्-पते—हे विदुर; धिया—चिन्तन में; विशुद्धया—शुद्ध की गई; दध्यौ—डाला; तथा—तुरन्त; प्रादुः—प्रकट; अभूत्—हो गये; हरिः—हरि, भगवान्।

महामुनि मैत्रेय ने विदुर से कहा : हे विदुर, जैसे ही राजा दक्ष ने शुद्धचित्त से यजुर्वेद के मंत्रों के साथ घी की आहुति डाली, वैसे ही भगवान् विष्णु अपने आदि नारायण रूप में वहाँ प्रकट हो गये।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु सर्वव्यापी हैं। कोई भी भक्त जो पवित्र मन से विधि-विधान सहित सेवा तथा भक्ति से मंत्रों का उच्चारण करता है; विष्णु का दर्शन कर सकता है। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है

कि जिस भक्त की आँखों में भगवत्प्रेम का अंजन लगा होता है, वह अपने हृदय में निरन्तर भगवान् का दर्शन कर सकता है। भगवान् श्यामसुन्दर अपने भक्तों पर इतने कृपालु जो हैं।

तदा स्वप्रभया तेषां द्योतयन्त्या दिशो दश ।
मुष्णांस्तेज उपानीतस्ताक्षर्येण स्तोत्रवाजिना ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तदा—उस समय; स्व-प्रभया—अपने तेज से; तेषाम्—उन सबों के; द्योतयन्त्या—कान्ति से; दिशः—दिशाएँ; दश—दस; मुष्णान्—कम करते हुए; तेजः—तेज; उपानीतः—लाया गया; ताक्षर्येण—गरुड़ द्वारा; स्तोत्र-वाजिना—जिसके पंख बृहत् तथा स्थन्तर कहलाते हैं।

भगवान् नारायण स्तोत्र अर्थात् गरुड़ के कन्धे पर आरूढ़ थे, जिसके बड़े-बड़े पंख थे। जैसे ही भगवान् प्रकट हुए, सभी दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं जिससे ब्रह्मा तथा अन्य उपस्थित जनों की कान्ति घट गई।

तात्पर्य : नारायण का वर्णन अगले दो श्लोकों में दिया गया है।

श्यामो हिरण्यरशनोऽर्ककिरीटजुष्टो
नीलालकभ्रमरमण्डितकुण्डलास्यः ।
शङ्खाब्जचक्रशरचापगदासिचर्म-
व्यग्रैर्हिरण्मयभुजैरिव कर्णिकारः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्यामः—श्याम वर्ण के; हिरण्य-रशनः—स्वर्ण के समान वस्त्र; अर्क-किरीट-जुष्टः—सूर्य के समान देदीप्यमान मुकुट; नील-अलक—काले बाल; भ्रमर—भौर; मण्डित-कुण्डल-आस्यः—कुण्डलों से सुशोभित मुख; शङ्ख—शंख; अब्ज—कमल पुष्प; चक्र—चक्र; शर—बाण; चाप—धनुष; गदा—गदा; असि—तलवार; चर्म—ढाल; व्यग्रैः—पूरित; हिरण्मय—सुनहले (बाजूबन्द तथा कंगन); भुजैः—हाथों से; इव—सदृश; कर्णिकारः—पुष्प-वृक्ष, कनेर।

उनका वर्ण श्याम था, उनके वस्त्र स्वर्ण की तरह पीले तथा मुकुट सूर्य के समान देदीप्यमान था। उनके बाल भौरों के समान काले और मुख कुण्डलों से आभूषित था। उनकी आठ भुजाएँ शंख, चक्र, गदा, कमल, बाण, धनुष, ढाल तथा तलवार धारण किये थीं ये कंगन तथा बिजावट जैसे स्वर्ण आभूषणों से अलंकृत थीं। उनका सारा शरीर कनेर के उस कुसुमित वृक्ष के समान प्रतीत हो रहा था जिसमें विभिन्न प्रकार के फूल सुन्दर ढंग से सजे हों।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित भगवान् विष्णु का मुख कमलपुष्प-सा प्रतीत हो रहा था जिस पर भौरें गूँज रहे हों। विष्णु के शरीर के सभी आभूषण प्रातःकालीन सूर्य के लाल-सुनहरे रंग वाले तरल

स्वर्ण के समान लग रहे थे। भगवान् प्रातःकालीन सूर्य की भाँति समग्र सृष्टि की रक्षा के लिए प्रकट होते हैं। उनके हाथों में विभिन्न आयुध रहते हैं और उनके आठ हाथ मानो कमलपुष्प के आठ दल हों। यहाँ पर वर्णित सभी आयुध भक्तों की रक्षा के लिए होते हैं।

सामान्य रूप से विष्णु की चार भुजाओं में चक्र, गदा, शंख तथा कमल रहते हैं। ये चारों विष्णु के चारों हाथों में विभिन्न प्रकार से व्यवस्थित देखे जाते हैं। गदा तथा चक्र असुरों तथा दुष्टों को दण्ड देने के प्रतीक हैं, जबकि कमल तथा शंख भक्तों को आशीर्वाद देने के प्रतीक हैं। सदा से संसार में दो प्रकार के पुरुष रहे हैं—भक्त तथा असुर। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*परित्राणाय साधूनाम्*) भगवान् सदैव भक्तों की रक्षा करने तथा असुरों के संहार के लिए उद्यत रहते हैं। इस भौतिक लोक में असुर तथा भक्त दोनों हैं, किन्तु आध्यात्मिक जगत में ऐसा कोई अन्तर नहीं होता। दूसरे शब्दों में, भगवान् विष्णु भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों के स्वामी हैं। भौतिक जगत में प्रायः सभी आसुरी प्रकृति के हैं और कुछेक भक्त भी हैं, जो भौतिक जगत में रहते दिखाई देते हैं किन्तु वे सदा आध्यात्मिक जगत में स्थित होते हैं। भक्त की स्थिति दिव्य होती है और भगवान् विष्णु उसकी सदा रक्षा करते हैं।

वक्षस्यधिश्रितवधूर्वनमाल्युदार-

हासावलोककलया रमयंश्च विश्वम् ।

पार्श्वभ्रमद्व्यजनचामरराजहंसः

श्वेतातपत्रशशिनोपरि रज्यमानः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वक्षसि—छाती पर; अधिश्रित—स्थित; वधूः—स्त्री (लक्ष्मी); वन-माली—वनपुष्पों की माला पहने; उदार—सुन्दर; हास—हँसती हुई; अवलोक—चितवन; कलया—किंचित्; रमयन्—मोहक; च—तथा; विश्वम्—पूरा संसार; पार्श्व—बगल; भ्रमत्—आगे-पीछे हिलते हुए; व्यजन-चामर—झलने के लिए सफेद चबँरी गाय की पूँछ; राज-हंसः—हंस; श्वेत-आतपत्र-शशिना—चन्द्र के समान श्वेत छत्र से; उपरि—ऊपर; रज्यमानः—सुन्दर दिखता हुआ।

भगवान् विष्णु असाधारण रूप से सुन्दर लग रहे थे, क्योंकि उनके वक्षस्थल पर ऐश्वर्य की देवी (लक्ष्मी) तथा एक हार विराजमान थे। उनका मुख मन्द हास के कारण अत्यन्त सुशोभित था, जो सारे जगत को और विशेष रूप से भक्तों के मन को मोहने वाला था। भगवान् के दोनों ओर श्वेत चामर डुल रहे थे, मानो श्वेत हंस हों और उनके ऊपर तना हुआ श्वेत छत्र चन्द्रमा के

समान लग रहा था।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का हँसता मुख सारे संसार को भानेवाला है। उनकी ऐसी हँसी से न केवल भक्तजन, वरन् अभक्त भी आकर्षित होते हैं। इस श्लोक में सूर्य, चन्द्रमा, आठ दल वाला कमल तथा भौरों की उपमा चामर, छत्र, मुख में दोनों ओर हिलते कुंडल, तथा काले-काले बालों से दी गई है। इन सबके साथ ही आठों भुजाओं में शंख, चक्र, गदा, पद्म, धनुष, बाण, ढाल तथा तलवार धारण करने के कारण ऐसा भव्य तथा सुन्दर रूप प्रस्तुत था, जो दक्ष तथा ब्रह्मा समेत सभी दर्शकों को मोहित करने वाला था।

तमुपागतमालक्ष्य सर्वे सुरगणादयः ।

प्रणोमुः सहस्रोत्थाय ब्रह्मेन्द्रत्र्यक्षनायकाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; उपागतम्—आया हुआ; आलक्ष्य—देखकर; सर्वे—सभी; सुर-गण-आदयः—देवता अथा अन्य लोग; प्रणोमुः—नमस्कार; सहसा—तुरन्त; उत्थाय—खड़े होकर; ब्रह्म—ब्रह्माजी; इन्द्र—इन्द्रदेव; त्रि-अक्ष—शिव (जिनके तीन नेत्र हैं) ; नायकाः—के नायकत्व में।

जैसे ही भगवान् विष्णु दृष्टिगोचर हुए, वहाँ पर उपस्थित—ब्रह्मा, शिव, गंधर्व तथा वहाँ उपस्थित सभी जनों ने उनके समक्ष सीधे गिरकर (दण्डवत्) सादर नमस्कार किया।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् विष्णु शिव तथा ब्रह्मा के भी परमेश्वर हैं, देवताओं, गंधर्वों तथा सामान्य जीवात्माओं का तो कुछ कहना ही नहीं। एक स्तुति में कहा गया है—*यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुताः*—सभी देवता भगवान् की पूजा करते हैं। इसी प्रकार *ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—योगीजन विष्णु के रूप में अपना मन केन्द्रित करते हैं। इस प्रकार भगवान् विष्णु समस्त देवताओं, गन्धर्वों द्वारा, यहाँ तक कि शिव तथा ब्रह्मा द्वारा भी पूज्य हैं। *तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः*—अतः विष्णु ही भगवान् हैं। यद्यपि ब्रह्मा ने इसके पूर्व शिव को अपनी स्तुति में परमेश्वर कहा था, किन्तु जब विष्णु प्रकट हुए तो शिव भी सादर नमस्कार करने के लिए उनके समक्ष दण्डवत् गिर पड़े।

तत्तेजसा हतरुचः सन्नजिह्वाः ससाध्वसाः ।

मूर्ध्ना धृताञ्जलिपुटा उपतस्थुरधोक्षजम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्-तेजसा—उनके शरीर के चमचमाते तेज से; हत-रुचः—मलिन कान्ति वाला; सन्न-जिह्वाः—मौन जीभ से; स-साध्वसाः—उनके भय से भयभीत; मूर्ध्ना—सर सहित; धृत-अञ्जलि-पुटाः—सिर पर हाथ रखे; उपतस्थुः—प्रार्थना की; अधोक्षजम्—अधोक्षज भगवान् की।

नारायण की शारीरिक कान्ति के तेज से अन्य सबों की कान्ति मन्द पड़ गई और सबों का बोलना बन्द हो गया। आश्चर्य तथा सम्मान से भयभीत, सबों ने अपने-अपने सिरों पर हाथ धर लिये और भगवान् अधोक्षज की स्तुति करने के लिए उद्यत हो गए।

अप्यर्वाग्वृत्तयो यस्य महि त्वात्मभुवादयः ।

यथामति गृणन्ति स्म कृतानुग्रहविग्रहम् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अपि—अब भी; अर्वाक्-वृत्तयः—मानसिक क्रिया-कलापों से परे; यस्य—जिसकी; महि—यश; तु—लेकिन; आत्मभू-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने.; यथा-मति—अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार; गृणन्ति स्म—स्तुति की; कृत-अनुग्रह—उनके अनुग्रह से प्रकट; विग्रहम्—दिव्य रूप।

यद्यपि ब्रह्मा जैसे देवता भी परमेश्वर की अनन्त महिमा का अनुमान लगाने में असमर्थ थे, किन्तु वे सभी भगवान् की कृपा से उनके दिव्य रूप को देख सकते थे। अतः वे अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सादर स्तुति कर सके।

तात्पर्य : भगवान् सदैव अनन्त हैं और उनकी महिमाओं का वर्णन कर पाना ब्रह्मा जैसे पुरुष के लिए भी दुष्कर है। कहा जाता है कि भगवान् के प्रत्यक्ष अवतार अनन्त के अनन्त मुख हैं और वे प्रत्येक मुख से अनन्त काल से भगवान् की महिमा-वर्णन का प्रयत्न करते रहे हैं, तो भी उनकी महिमाओं का वर्णन पूरा नहीं हो पाया। सामान्य मनुष्य के लिए भगवान् की अनन्त महिमा को समझ पाना या उसका वर्णन कर पाना सम्भव नहीं, किन्तु अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार लोग उनकी स्तुति तो कर ही सकते हैं। सेवा भाव से यह शक्ति बढ़ती है। *सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ* का अर्थ है कि जीभ से भगवान् की सेवा प्रारम्भ होती है। यह कीर्तन की द्योतक है, हरे कृष्ण कीर्तन से भगवान् की सेवा प्रारम्भ की जा सकती है। जीभ का दूसरा कार्य भगवान् के प्रसाद का स्वाद लेना और उसे ग्रहण करना है। हमें अनन्त की सेवा जीभ से प्रारम्भ करनी चाहिए और जप करने तथा भगवान् का प्रसाद ग्रहण करने में पटु होना चाहिए। भगवान् के प्रसाद को ग्रहण करने का अर्थ है समूची इन्द्रियों को वश में

करना। जीभ सर्वाधिक अनियंत्रित इन्द्रिय मानी जाती है क्योंकि यह अनेक अभक्ष्य पदार्थों के पीछे पड़ी रहती है, जिससे यह जीवात्मा को बद्धजीवन के गर्त में धकेलती है। चूँकि जीवात्मा एक जीव से दूसरे में देहान्तर करता है, अतः उसे अत्यन्त घृणित वस्तुएँ खानी पड़ती हैं, जिसका कोई पारावार नहीं है। जीभ को जप करने तथा भगवान् के प्रसाद खाने में लगाना चाहिए जिससे अन्य इन्द्रियाँ वश में रहें। जप या कीर्तन ओषधि है, प्रसाद भोजन है। इन क्रियाओं से सेवा प्रारम्भ की जा सकती है और ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती जाती है, भगवान् भक्तके समक्ष अधिकाधिक रूप में प्रकट होते हैं। किन्तु उनकी महिमा का अन्त नहीं है और उनकी सेवा का भी अन्त नहीं है।

दक्षो गृहीतार्हणसादनोत्तमं

यज्ञेश्वरं विश्वसृजां परं गुरुम् ।

सुनन्दनन्दाद्यनुगैर्वृतं मुदा

गृणन्प्रपेदे प्रयतः कृताञ्जलिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

दक्षः—दक्ष ने; गृहीत—ग्रहण कर लिया; अर्हण—उचित; सादन-उत्तमम्—पूजा-पात्र; यज्ञ-ईश्वरम्—समस्त यज्ञों के स्वामी को; विश्व-सृजाम्—समस्त प्रजापतियों को; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक; सुनन्द-नन्द-आदि-अनुगैः—सुनन्द तथा नन्द जैसे पार्षदों द्वारा; वृतम्—घिरा हुआ; मुदा—प्रसन्नतापूर्वक; गृणन्—स्तुति करते हुए; प्रपेदे—शरण ली; प्रयतः—विनीत भाव से; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़ कर।

जब भगवान् विष्णु ने यज्ञ में डाली गई आहुतियों को स्वीकार कर लिया तो दक्ष प्रजापति ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनकी स्तुति करनी प्रारम्भ की। वस्तुतः भगवान् समस्त यज्ञों के स्वामी और सभी प्रजापतियों के गुरु हैं और नन्द-सुनन्द जैसे पुरुष तक उनकी सेवा करते हैं।

दक्ष उवाच

शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं

चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम् ।

तिष्ठंस्तथैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्याम्

आस्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

दक्षः—दक्ष ने; उवाच—कहा; शुद्धम्—शुद्ध; स्व-धाम्नि—अपने धाम में; उपरत-अखिल—पूर्णतया रहित; बुद्धि-अवस्थम्—मानसिक कल्पना की अवस्था; चित्-मात्रम्—पूर्णतया आध्यात्मिक; एकम्—अद्वितीय; अभयम्—निडर; प्रतिषिध्य—वश में करके; मायाम्—भौतिक शक्ति को; तिष्ठन्—स्थित होकर; तथा—उस (माया) के द्वारा; एव—निश्चय ही; पुरुषत्वम्—पर्यवेक्षक; उपेत्य—प्रविष्ट होकर; तस्याम्—उसमें; आस्ते—उपस्थित हैं; भवान्—आप; अपरिशुद्धः—अशुद्ध; इव—मानो; आत्म-तन्त्रः—आत्म-निर्भर, स्वतंत्र।

दक्ष ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे प्रभु, आप समस्त कल्पना-अवस्थाओं से परे हैं। आप परम चिन्मय, भय-रहित और भौतिक माया को वश में रखने वाले हैं। यद्यपि आप माया में स्थित प्रतीत होते हैं, किन्तु आप दिव्य हैं। आप भौतिक कल्मष से मुक्त हैं, क्योंकि आप परम स्वतंत्र हैं।

ऋत्विज ऊचुः

तत्त्वं न ते वयमनञ्जन रुद्रशापात्

कर्मण्यवग्रहधियो भगवन्विदामः ।

धर्मोपलक्षणमिदं त्रिवृदध्वराख्यं

ज्ञातं यदर्थमधिदैवमदो व्यवस्थाः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ऋत्विजः—पुरोहितों ने; ऊचुः—कहना प्रारम्भ किया; तत्त्वम्—सत्य; न—नहीं; ते—आपका; वयम्—हम सब; अनञ्जन—किसी भौतिक कल्मष से रहित; रुद्र—शिव के; शापात्—शाप से; कर्मणि—सकाम कर्मों में; अवग्रह—अत्यधिक लिप्त रहने से; धियः—ऐसी बुद्धि का; भगवन्—हे भगवान्; विदामः—जानते हैं; धर्म—धर्म; उपलक्षणम्—सांकेतिक; इदम्—यह; त्रिवृत्—वेद ज्ञान के तीन विभाग, वेदत्रयी; अध्वर—यज्ञ; आख्यम्—नाम का; ज्ञातम्—ज्ञात; यत्—वह; अर्थम्—प्रयोजन के हेतु; अधिदैवम्—देवताओं की पूजा के लिए; अदः—यह; व्यवस्थाः—प्रबन्ध, व्यवस्था।

पुरोहितों ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हे भगवन्, आप भौतिक कल्मष से परे हैं। शिव के अनुचरों द्वारा दिये गये शाप के कारण हम सकाम कर्म में लिप्त हैं, अतः हम पतित हो चुके हैं और आपके विषय में कुछ भी नहीं जानते। उल्टे, हम यज्ञ के नाम पर अनुष्ठानों को सम्पन्न करने के लिए वेदत्रयी के आदेशों में आ फँसे हैं। हमें ज्ञात है कि आपने देवताओं को अपने-अपने उनके भाग दिये जाने की व्यवस्था कर रखी है।

तात्पर्य : वेदों को त्रैगुण्य-विषया वेदाः (भगवद्गीता २.४५) कहा जाता है। वेदों के विशेषज्ञ वेदों में वर्णित अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक लिप्त रहते हैं, अतः ये वेदवादी यह नहीं समझ सकते कि वेदों का चरम उद्देश्य तो भगवान् कृष्ण या विष्णु को जानना है। किन्तु जो वेदों के गुणात्मक आकर्षणों से परे हैं, वे उन श्रीकृष्ण को समझ सकते हैं, जो भौतिक गुणों से कभी भी दूषित नहीं होते। इसीलिए भगवान् विष्णु को यहाँ अनञ्जन (दूषणों से मुक्त) सम्बोधित किया गया है। भगवद्गीता (२.४२) में श्रीकृष्ण ने अल्पज्ञ वेदवादियों की इस प्रकार निन्दा की है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

“अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है और वे कहते हैं कि इस से बढ़कर कुछ भी नहीं है।”

सदस्या ऊचुः

उत्पन्त्यध्वन्यशरण उरुक्लेशदुर्गेऽन्तकोग्र-

व्यालान्विष्टे विषयमृगतृष्यात्मगेहोरुभारः ।

द्वन्द्वश्वभ्रे खलमृगभये शोकदावेऽज्ञसार्थः

पादौकस्ते शरणद कदा याति कामोपसृष्टः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सदस्याः—सभा के सदस्य; ऊचुः—बोले; उत्पत्ति—जन्म-मृत्यु का चक्र; अध्वनि—के मार्ग पर; अशरणे—जिसका आश्रय न हो; उरु—महान; क्लेश—कष्टकारक; दुर्गे—किले में; अन्तक—अन्त; उग्र—डरावना; व्याल—सर्प; अन्विष्टे—परिपूर्ण; विषय—भौतिक सुख; मृग-तृषि—मृग-तृष्णा; आत्म—शरीर; गेह—घर; उरु—भारी; भारः—भार, बोझ; द्वन्द्व—द्वैत; श्वभ्रे—छिद्र, सुख तथा दुख के खंदक; खल—दुष्ट; मृग—पशु; भये—डरा हुआ; शोक-दावे—शोक रूपी दावाग्नि; अज्ञ-स-अर्थः—दुष्टों के हित के लिए; पाद-ओकः—चरणकमलों की शरण; ते—तुम्हारे; शरण-द—शरण देने वाला; कदा—जब; याति—गया; काम-उपसृष्टः—सभी प्रकार की इच्छाओं से दुखित ।

सभा के सदस्यों ने भगवान् को सम्बोधित किया—हे संतप्त जीवों के एकमात्र आश्रय, इस बद्ध संसार के दुर्ग में काल-रूपी सर्प प्रहार करने की ताक में रहता है। यह संसार तथाकथित सुख तथा दुख की खंदकों से भरा पड़ा है और अनेक हिंस्र पशु आक्रमण करने को सन्नद्ध रहते हैं। शोक रूपी अग्नि सदैव प्रज्वलित रहती है और मृषा सुख की मृगतृष्णा सदैव मोहती रहती है, किन्तु मनुष्य को इनसे छुटकारा नहीं मिलता। इस प्रकार अज्ञानी पुरुष जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं और अपने तथाकथित कर्तव्यों के भार से सदा दबे रहते हैं। हमें ज्ञात नहीं कि वे आपके चरणकमलों की शरण में कब जाएँगे।

तात्पर्य : जो मनुष्य कृष्ण-भक्ति नहीं करते, उनका जीवन अत्यन्त शोचनीय है, जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है। किन्तु ये परिस्थितियाँ कृष्ण को विस्मृत करने के कारण आती हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन इन समस्त मोहग्रस्त तथा दुखी मनुष्यों को राहत देने के लिए है; अतः यह समस्त मानव समाज के लिए सबसे बड़ा राहत-कार्य है और इसके कार्यकर्ता सर्वोत्कृष्ट शुभचिन्तक हैं, क्योंकि वे भगवान् चैतन्य के चरण-चिह्नों का अनुसरण करते हैं, जो सभी जीवात्माओं के परम सखा

हैं।

रुद्र उवाच

तव वरद वराङ्घ्रावाशिषेहाखिलार्थे
ह्यपि मुनिभिरसक्तैरादरेणार्हणीये ।
यदि रचितधियं माविद्यलोकोऽपविद्धं
जपति न गणये तत्त्वत्परानुग्रहेण ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

रुद्रः उवाच—शिव ने कहा; तव—तुम्हारा; वर-द—हे परम दानी; वर-अङ्घ्रौ—अमूल्य चरणकमल; आशिषा—इच्छा से; इह—संसार में; अखिल-अर्थ—पूर्ति के लिए; हि अपि—निश्चय ही; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; असक्तैः—मुक्त; आदरेण—आदरपूर्वक; अर्हणीये—पूज्य; यदि—यदि; रचित-धियम्—स्थिर मन; मा—मुझको; अविद्य-लोकः—अज्ञानी पुरुष; अपविद्धम्—अशुद्ध कर्म; जपति—कहता है; न गणये—मूल्य नहीं जानते; तत्—वह; त्वत्-पर-अनुग्रहेण—आप की जैसी कृपा से।

शिवजी ने कहा : हे भगवान्, मेरा मन तथा मेरी चेतना निरन्तर आपके पूजनीय चरणकमलों पर स्थिर रहती है, जो समस्त वरों तथा इच्छाओं की पूर्ति के स्रोत होने के कारण समस्त मुक्त महामुनियों द्वारा पूजित हैं क्योंकि आपके चरण कमल ही पूजा के योग्य। आपके चरणकमलों में मन को स्थिर रखकर मैं उन व्यक्तियों से विचलित नहीं होता जो यह कहकर मेरी निन्दा करते हैं कि मेरे कर्म पवित्र नहीं हैं। मैं उनके आरोपों की परवाह नहीं करता और मैं उसी प्रकार दयावश उन्हें क्षमा कर देता हूँ, जिस प्रकार आप समस्त जीवों के प्रति दया प्रदर्शित करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर शिवजी अपने क्रुद्ध होने तथा दक्ष के यज्ञ-कार्य को विध्वंस करने के लिए खेद व्यक्त करते हैं। राजा दक्ष ने कई प्रकार से उनका अपमान किया था जिससे क्रुद्ध होकर उन्होंने उसका सम्पूर्ण यज्ञ-उत्सव तहस-नहस कर दिया था। बाद में उनके प्रसन्न होने पर सारा यज्ञ कार्य पुनः सम्पन्न हुआ, अतः उन्होंने अपने कार्यों के लिए खेद व्यक्त किया। अब वे कहते हैं कि चूँकि उनका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, अतः वे उन सामान्य आलोचकों से, जो उनके आचरण की आलोचना करते हैं, तनिक भी विचलित नहीं होते। शिव के इस कथन से यह समझना चाहिए कि जब तक मनुष्य भौतिक स्तर पर रहता है, तब तक वह प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता रहता है, किन्तु जैसे ही वह कृष्णभक्ति करने लगता है, उसे ये भौतिक कार्यकलाप प्रभावित नहीं करते। अतः मनुष्य को सदा कृष्णभावनामृत में स्थिर रहना चाहिए और भगवान् की दिव्य प्रेमभक्ति में व्यस्त रहना

चाहिए। यह निश्चित है कि ऐसे भक्त को प्रकृति के तीनों गुणों के कर्मबन्धन नहीं सताते। इस तथ्य की पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है—जो भगवान् की दिव्य सेवा में अनुरक्त है, वह समस्त भौतिक गुणों को पार करके ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिति को प्राप्त होता है, जिसमें उसे भौतिक वस्तुओं के पीछे दौड़ कर दुखी नहीं होना पड़ता। *श्रीमद्भागवत* की संस्तुति है कि मनुष्य को सदैव कृष्णभावनाभावित होना चाहिए और भगवान् से अपने दिव्य सम्बन्ध को विस्मृत नहीं करना चाहिए। इस कार्यक्रम का हर एक को दृढ़ता से पालन करना चाहिए। शिव के कथन से प्रतीत होता है कि वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते थे जिससे वे भौतिक तापों से दूर रहे। अतः एकमात्र ओषधि है कि दृढ़ता से कृष्णभक्ति की जाये जिससे भौतिक गुणों के कल्मष से बाहर निकला जा सके।

भृगुरुवाच

यन्मायया गहनयापहतात्मबोधा

ब्रह्मादयस्तनुभृतस्तमसि स्वपन्तः ।

नात्मन्श्रितं तव विदन्त्यधुनापि तत्त्वं

सोऽयं प्रसीदतु भवान्प्रणतात्मबन्धुः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भृगुः उवाच—उवाच श्रीभृगु ने कहा; यत्—जो; मायया—माया से; गहनया—दुर्लभ्य; अपहृत—चुराया हुआ; आत्म-बोधा:—स्वाभाविक स्थिति का ज्ञान; ब्रह्म-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि.; तनु-भृतः—जीवात्माओं सहित; तमसि—मोहान्धकार में; स्वपन्तः—सोये हुए; न—नहीं; आत्मन्—जीवात्मा में; श्रितम्—स्थित; तव—तुम्हारा; विदन्ति—जानते हैं; अधुना—अब; अपि—निश्चय ही; तत्त्वम्—परम पद; सः—वह (आप); अयम्—यह; प्रसीदतु—प्रसन्न हों; भवान्—आप; प्रणत-आत्म—शरणागत जीव के; बन्धुः—सखा, मित्र।

भृगु मुनि ने कहा : हे भगवन्, सर्वोच्च ब्रह्मा से लेकर सामान्य चींटी तक सारे जीव आपकी माया शक्ति के दुर्लभ्य जादू के वशीभूत हैं और इस प्रकार वे अपनी स्वाभाविक स्थिति से अपरिचित हैं। देहात्मबुद्धि में विश्वास करने के कारण सभी मोह के अंधकार में पड़े हुए हैं। वे वास्तव में यह नहीं समझ पाते कि आप प्रत्येक जीवात्मा में परमात्मा के रूप में कैसे रहते हैं, न तो वे आपके परम पद को ही समझ सकते हैं। किन्तु आप समस्त शरणागत जीवों के नित्य सखा एवं रक्षक हैं। अतः आप हम पर कृपालु हों और हमारे समस्त पापों को क्षमा कर दें।

तात्पर्य : दक्ष के यज्ञ-समारोह में ब्रह्मा तथा शिव समेत सबों ने जो अपयशपूर्ण आचरण प्रदर्शित किया था भृगु मुनि उससे अवगत थे। इस संसार में जीवात्माओं में प्रमुख ब्रह्मा का नाम लेकर वे

बताना चाह रहे थे कि विष्णु को छोड़कर ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देहात्म-बुद्धि तथा माया के जादू के वश में थे। यही भृगु की दृष्टि है। जब तक मनुष्य शरीर को आत्मरूप मानता है, तब तक वह परमात्मा या भगवान् को नहीं समझ पाता। भृगु ने अपने को भी अपराधकर्ताओं की सूची में सम्मिलित किया क्योंकि वह जानता था कि वह ब्रह्मा से बड़ा नहीं है। अज्ञानी पुरुषों या बद्धजीवों को माया के वशीभूत होकर अपनी दयनीय स्थिति को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं बचता। इसकी एकमात्र ओषधि विष्णु की शरण में जाकर सदैव क्षमा-याचना करना है। उद्धार के लिए मात्र भगवान् की अहैतुकी कृपा पर निर्भर करना चाहिए, अपनी शक्ति पर नाममात्र भी आश्रित नहीं होना चाहिए। कृष्णभावनाभावित मनुष्य (भक्त) की यही सिद्ध स्थिति है। भगवान् जैसे तो सबों के सखा हैं, लेकिन जो शरणागत हैं, वे उनके विशेष मित्र हैं। अतः सरल उपाय यही है कि बद्धजीव भगवान् की शरण में रहे तो भगवान् उसे सभी भौतिक बन्धनों से दूर रखेंगे।

ब्रह्मोवाच

नैतत्स्वरूपं भवतोऽसौ पदार्थ-

भेदग्रहैः पुरुषो यावदीक्षेत् ।

ज्ञानस्य चार्थस्य गुणस्य चाश्रयो

मायामयाद्व्यतिरिक्तो मतस्त्वम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्मा ने कहा; न—नहीं; एतत्—यह; स्वरूपम्—अनित्य रूप; भवतः—आपका; असौ—वह; पद-अर्थ—ज्ञान; भेद—भिन्न; ग्रहैः—प्राप्ति से; पुरुषः—पुरुष; यावत्—जब तक; ईक्षेत्—देखना चाहता है; ज्ञानस्य—ज्ञान का; च—भी; अर्थस्य—लक्ष्य का; गुणस्य—ज्ञान के साधनों का; च—भी; आश्रयः—आधार; माया-मयात्—माया से निर्मित होने से; व्यतिरिक्तः—स्पष्ट; मतः—माना हुआ; त्वम्—तुम।

ब्रह्माजी ने कहा : हे भगवन्, यदि कोई पुरुष आपको ज्ञानअर्जित करने की विभिन्न विधियों द्वारा जानने का प्रयास करे तो वह आपके व्यक्तित्व एवं शाश्वत रूप को नहीं समझ सकता। आपकी स्थिति भौतिक सृष्टि की तुलना में सदैव दिव्य है, जबकि आपको समझने के प्रयास, लक्ष्य तथा साधन सभी भौतिक और काल्पनिक हैं।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के दिव्य नाम, गुण, कार्य, साज-सामग्री इत्यादि का ज्ञान हमारी भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। परम सत्य को अनुभवात्मक दार्शनिकों द्वारा कल्पना के द्वारा जानने का प्रयास सदा ही व्यर्थ रहता है, क्योंकि उनके ज्ञान की विधि, उनका

लक्ष्य तथा जिन साधनों से वे परम सत्य को जानना चाहते हैं, वे सब भौतिक हैं। भगवान् तो अप्राकृत हैं, अर्थात् भौतिक जगत की सृष्टि के परे हैं। इस तथ्य को महान् निर्गुणवादी शंकराचार्य ने भी स्वीकार किया है— नारायणः परोऽव्यक्तादण्डम् अव्यक्तसम्भवम्। अव्यक्त अर्थात् आदि भौतिक कारण प्राकट्य से परे है और भौतिक जगत का कारण है। चूँकि भगवान् नारायण इस भौतिक जगत से परे हैं, अतः भौतिक विधि से इनका चिन्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य को कृष्णचेतना (कृष्णभावना) की दिव्य विधि द्वारा ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (१८.५५) में की गई है। भक्त्या माम् अभिजानाति—केवल भक्ति से भगवान् के दिव्य रूप को समझा जा सकता है। निर्गुणवादियों तथा सगुणवादियों में मुख्य अन्तर यही है कि निर्गुणवादी अपनी सीमित चिन्तन विधियों से श्रीभगवान् तक नहीं पहुँच पाते जबकि भक्त लोग भगवान् को प्रेमाभक्ति द्वारा प्रसन्न कर लेते हैं। सेवोन्मुखे हि—भक्त की भक्ति के प्रति उन्मुखता से भगवान् प्रकट होते हैं। यदि भौतिकतावादी पुरुषों के समक्ष भगवान् खड़े भी हो जाँय तो वे उन्हें नहीं समझ पाएँगे। अतः श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में ऐसे भौतिकवादियों को मूढ़ कह कर उनकी भर्त्सना की है। मूढ़ का अर्थ है 'दुष्ट'। गीता में कहा गया है, “केवल दुष्ट ही श्रीकृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। वे भगवान् कृष्ण की स्थिति या उनकी दिव्य शक्तियों से परिचित नहीं होते।” भगवान् की दिव्य शक्तियों से अपरिचित होने से निर्गुणवादी व्यक्ति कृष्ण का उपहास करते हैं, जबकि भक्त लोग अपनी सेवावृत्ति के कारण उन्हें श्रीभगवान् के रूप में जानते हैं। भगवद्गीता के दशम अध्याय में अर्जुन ने इसकी पुष्टि की है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना कठिन है।

इन्द्र उवाच
 इदमप्यच्युत विश्वभावनं
 वपुरानन्दकरं मनोदृशाम् ।
 सुरविद्विदक्षपणैरुदायुधै-
 भुजदण्डैरुपपन्नमष्टभिः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रः उवाच—राजा इन्द्र ने कहा; इदम्—यह; अपि—निश्चय ही; अच्युत—हे अच्युत; विश्व-भावनम्—विश्व के कल्याण हेतु;
 वपुः—दिव्य रूप; आनन्द-करम्—आनन्द के कारण; मनः-दृशाम्—मन तथा नेत्रों को; सुर-विद्विद—आपके भक्तों से ईर्ष्यालु;
 क्षपणैः—दण्ड द्वारा; उद्-आयुधैः—हथियार उठाये; भुज-दण्डैः—बाहों से; उपपन्नम्—युक्त; अष्टभिः—आठ।

राजा इन्द्र ने कहा : हे भगवन्, प्रत्येक हाथ में आयुध धारण किये आपका यह अष्टभुज दिव्य रूप सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु प्रकट होता है और मन तथा नेत्रों को अत्यन्त आनन्दित करने वाला है। आप इस रूप में अपने भक्तों से ईर्ष्या करने वाले असुरों को दण्ड देने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं।

तात्पर्य : शास्त्रों से सामान्यतः ज्ञात होता है कि भगवान् विष्णु चतुर्भुज रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु इस विशिष्ट यज्ञस्थल पर वे अष्टभुज रूप में आये। राजा इन्द्र ने कहा, “यद्यपि हम आपके चतुर्भुज विष्णु रूप देखने के अभ्यस्त हैं, किन्तु आपका यह अष्टभुज रूप भी उतना ही यथार्थ है।” जैसाकि ब्रह्मा कह चुके हैं, भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करना इन्द्रियों की शक्ति के परे है। ब्रह्मा के इस कथन के उत्तर में, राजा इन्द्र ने कहा कि यद्यपि भगवान् का दिव्य रूप भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, उनके कार्यकलाप और दिव्य रूप को समझा जा सकता है। भगवान् का असामान्य रूप, असामान्य गुण तथा असामान्य सौंदर्य सामान्य पुरुष द्वारा भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, जब वृन्दावन में भगवान् कृष्ण छह-सात वर्ष के बालक रूप में प्रकट हुए तो वहाँ के वासी उन्हें देखने आये। वहाँ पर मूसलाधार वर्षा हुई तो भगवान् ने गोवर्धन पर्वत उठाकर वृन्दावनवासियों की रक्षा की और पर्वत को सात दिनों तक बाएँ हाथ की कनिष्ठा अँगुली पर उठाये रखा। यह असामान्य गुण उन भौतिकतावादी पुरुषों को भी विश्वास दिलाने वाला है, जो अपनी भौतिक इन्द्रियों की सीमा तक ही कल्पना कर सकते हैं। भगवान् की लीलाएँ व्यावहारिक दृष्टि से भी मन को भाने वाली हैं, किन्तु निर्गुणवादी इस रूप पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि वे भगवान् के व्यक्तित्व की तुलना अपने व्यक्तित्व से करते हैं। चूँकि इस भौतिक जगत के लोग पर्वत नहीं उठा सकते, अतः उन्हें विश्वास ही नहीं हो पाता कि भगवान् ऐसा कर सकते हैं। वे *श्रीमद्भागवत* के कथन को रूपक मानते हैं और वे उसकी विवेचना अपने ढंग से करते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि भगवान् ने वृन्दावन के सभी निवासियों के समक्ष पर्वत उठा लिया था, जैसाकि व्यासदेव तथा नारद जैसे महान् आचार्यों तथा लेखकों ने पुष्टि की है। भगवान् के कार्य, लीलाएँ तथा असामान्य गुण—इन सबों को यावत् रूप में स्वीकार करना होगा और इस तरह से हम आज भी भगवान् को समझ सकते हैं। यहाँ दिये गये उदाहरण में इन्द्र ने पुष्टि की

“आपका यह अष्टभुज रूप आपके चतुर्भुज रूप के ही समान उत्तम है।” इसमें कोई सन्देह नहीं।

पत्न्य ऊचुः

यज्ञोऽयं तव यजनाय केन सृष्टो

विध्वस्तः पशुपतिनाद्य दक्षकोपात् ।

तं नस्त्वं शवशयनाभशान्तमेधं

यज्ञात्मन्नलिनरुचा दृशा पुनीहि ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

पत्न्यः ऊचुः—यज्ञकर्ताओं की पत्नियों ने कहा; यज्ञः—यज्ञ; अयम्—यह; तव—तुम्हारा; यजनाय—पूजा के हेतु; केन—ब्रह्मा द्वारा; सृष्टः—व्यवस्थित; विध्वस्तः—नष्ट-भ्रष्ट; पशुपतिना—शिव द्वारा; अद्य—आज; दक्ष-कोपात्—दक्ष पर क्रोध करने से; तम्—यह; नः—हमारा; त्वम्—तुम; शव-शयन—मृत शरीर; आभ—के समान; शान्त-मेधम्—शान्त बलि-पशु; यज्ञ-आत्मन्—हे यज्ञ के स्वामी; नलिन—कमल; रुचा—सुन्दर; दृशा—अपने नेत्रों की दृष्टि से; पुनीहि—पवित्र कीजिये।

याज्ञिकों की पत्नियों ने कहा : हे भगवान्, वह यज्ञ ब्रह्मा के आदेशानुसार व्यवस्थित किया गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश दक्ष से क्रुद्ध होकर शिव ने समस्त दृश्य को ध्वस्त कर दिया और उनके रोष के कारण यज्ञ के निमित्त लाये गये पशु निर्जीव पड़े हैं। अतः यज्ञ की सारी तैयारियाँ बेकार हो चुकी हैं। अब आपके कमल जैसे नेत्रों की चितवन से इस यज्ञस्थल की पवित्रता पुनः प्राप्त हो।

तात्पर्य : यज्ञ में पशुओं को नया जीवन प्रदान करने के लिए उनकी बलि दी जाती थी; वहाँ पर पशुओं के लाये जाने का यही प्रयोजन था। यज्ञ में पशु की बलि और इसे नवजीवन प्रदान करना मंत्रोच्चार-शक्ति के प्रमाण थे। दुर्भाग्यवश, जब शिव ने दक्ष के यज्ञ को विध्वंस कर दिया तो कुछ पशु भी मार डाले गये (एक का वध दक्ष के सिर लगाने के लिए हुआ था)। उनके शरीर बिखरे पड़े थे और यज्ञस्थल श्मशान भूमि बन गया था। फलतः यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य समाप्त हो चुका था।

चूँकि भगवान् विष्णु को ही लक्ष्य बनाकर ऐसे यज्ञ किये जाते हैं, अतः याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अहैतुकी कृपा द्वारा यज्ञस्थल पर एक दृष्टि तो डाल दें जिससे यज्ञ का कार्यक्रम प्रारम्भ किया जा सके। सारांश यह कि वृथा ही पशु-वध न किया जाय। वे मंत्र शक्ति के परीक्षण हेतु प्रयुक्त होते थे और उन्हें मंत्र के बल पर पुनः तरुण हो जाना था। उनका वध नहीं होना चाहिए था, जैसाकि शिव द्वारा दक्ष के सिर के स्थान पर पशु-सिर लगाने के लिए वध किया गया था। पशु की बलि होते और उसको पुनः तरुण होते देखना एक मनोहारी दृश्य होना था, किन्तु अब वैसा

वातावरण नहीं रह गया था। अतः याज्ञिकों की पत्नियों ने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अपनी कृपादृष्टि से पशुओं को जिलाएँ और यज्ञ को मनमोहक बनाएँ।

ऋषय ऊचुः

अनन्वितं ते भगवन्विचेष्टितं

यदात्मना चरसि हि कर्म नाज्यसे ।

विभूतये यत उपसेदुरीश्वरीं

न मन्यते स्वयमनुवर्तती भवान् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

ऋषयः—ऋषियों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अनन्वितम्—आश्चर्यजनक; ते—तुम्हारा; भगवन्—हे समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी; विचेष्टितम्—कार्यकलाप; यत्—जो; आत्मना—अपनी शक्तियों से; चरसि—करते हो; हि—निश्चय ही; कर्म—ऐसे कार्यों को; न अज्यसे—लिप्त नहीं होते; विभूतये—उसकी कृपा के हेतु; यतः—जिससे; उपसेदुः—पूज्य; ईश्वरीम्—ऐश्वर्य की देवी, लक्ष्मी; न मन्यते—लिप्त नहीं होती हैं; स्वयम्—स्वयं; अनुवर्ततीम्—अपनी आज्ञाकारी दासी (लक्ष्मी); भवान्—आप।

ऋषियों ने प्रार्थना की: हे भगवान्, आपके कार्य अत्यन्त आश्चर्यमय हैं और यद्यपि आप सब कुछ अपनी विभिन्न शक्तियों से करते हैं, किन्तु आप उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि आप सम्पत्ति की देवी लक्ष्मीजी से भी लिप्त नहीं हैं, जिनकी पूजा ब्रह्माजी जैसे बड़े-बड़े देवताओं द्वारा उनकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाती है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया कि भगवान् को अपने अद्भुत कर्मों के फल की कोई कामना नहीं रहती और न ही उन्हें कर्म करने की आवश्यकता ही है। किन्तु सामान्य जनों के समक्ष उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए वे कभी-कभी कर्म करते हैं, जो अत्यन्त आश्चर्यजनक होते हैं। *न मां कर्माणि लिम्पन्ति*—यद्यपि वे अत्यन्त आश्चर्यजनक ढंग से कर्म करते हैं, किन्तु वे किसी वस्तु से लिप्त नहीं होते (भगवद्गीता ४.१४)। वे स्वतःपूर्ण हैं। यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी सदैव भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, किन्तु तो भी वे उनसे लिप्त नहीं होते। यहाँ तक कि ब्रह्मा जैसे देवता भी सम्पत्ति की देवी लक्ष्मी का कृपापात्र बनने के लिए उनकी पूजा करते हैं; किन्तु, यद्यपि भगवान् की पूजा में सैकड़ों-हजारों सम्पत्ति की देवियाँ लगी रहती हैं, पर वे उनमें से किसी से लिप्त नहीं होते। भगवान् की इस उच्च दिव्य स्थिति का वर्णन अनेक ऋषियों ने विशेष तौर पर किया है। वे सामान्य जीवात्मा की भाँति नहीं हैं, जो पुण्य कर्मों के फल के प्रति आसक्त होता है।

सिद्धा ऊचुः

अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां

मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः ।

तृषार्तोऽवगाढो न सस्मार दावं

न निष्कामति ब्रह्मसम्पन्नवन्नः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सिद्धाः—सिद्धों ने; ऊचुः—प्रार्थना की; अयम्—वह; त्वत्-कथा—आपकी लीलाएँ; मृष्ट—शुद्ध; पीयूष—अमृत की; नद्याम्—नदी में; मनः—मन का; वारणः—हाथी; क्लेश—कष्ट; दाव-अग्नि—जंगल की आग से; दग्धः—जला हुआ; तृषा—प्यास; आर्तः—त्रस्त; अवगाढः—निमज्जित; न सस्मार—स्मरण नहीं करते; दावम्—दावाग्नि या कष्टों को; न निष्कामति—बाहर नहीं आता; ब्रह्म—परम; सम्पन्न-वत्—मानो तदाकार हों; नः—हम।

सिद्धों ने स्तुति की : हे भगवन्, हमारे मन उस हाथी के समान हैं, जो जंगल की आग से त्रस्त होने पर नदी में प्रविष्ट हो ते ही सभी कष्ट भूल सकता है। उसी तरह ये हमारे मन भी आपकी दिव्य लीलाओं की अमृत-नदी में निमज्जित हैं और ऐसे दिव्य आनन्द में निरन्तर बने रहना चाहते हैं, जो परब्रह्म में तदाकार होने के सुख के समान ही है।

तात्पर्य : यह कथन सिद्धलोक के वासियों का है, जहाँ आठ प्रकार की भौतिक सिद्धियाँ पाई जाती हैं। वहाँ के वासी आठ प्रकार की योग सिद्धियों के स्वामी होते हैं, किन्तु उनके कथन से ऐसा लगता है कि वे शुद्ध भक्त हैं। वे भगवान् की लीलाओं के श्रवण की अमृत-सरिता में निरन्तर अवगाहन करते हैं। भगवान् की लीलाओं का श्रवण कृष्ण-कथा कहलाता है। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज का कथन है कि जो लोग भगवान् की लीलाओं की कथा-वर्णन के अमृत-सागर में डूबे रहते हैं, वे मुक्त हैं और उन्हें भौतिक जीवन से कोई भय नहीं रहता। सिद्धों का कहना है कि सामान्य पुरुष का मन चिन्ताओं से पूर्ण रहता है। यहाँ पर एक ऐसे हाथी का उदाहरण दिया गया है, जो जंगल की आग से त्रस्त होकर राहत पाने के लिए नदी में घुस जाता है। यदि इस संसार रूपी दावाग्नि से पीड़ित लोग भगवान् की लीलाओं की कथा के वर्णन रूपी अमृत-सरोवर में केवल प्रविष्ट हो जाँए तो वे इस संसार के सारे कष्ट भूल जायें। सिद्धों को सकाम कर्मों की—यथा यज्ञ करके अच्छे फल भोगने की—तनिक भी परवाह नहीं रहती। वे तो मात्र भगवान् की लीलाओं की दिव्य चर्चा में मग्न रहते हैं, इसीसे वे परम प्रसन्न रहते हैं, उन्हें शुभ या अशुभ कर्मों के करने की परवाह नहीं रहती। जो लोग सदैव कृष्णभावनाभावित रहते हैं, उन्हें किसी प्रकार के कर्म या यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। कृष्णभावनामृत स्वयं में पूर्ण है, क्योंकि इसमें वेदवर्णित सभी विधियाँ सम्मिलित हैं।

यजमान्युवाच

स्वागतं ते प्रसीदेश तुभ्यं नमः

श्रीनिवास श्रिया कान्तया त्राहि नः ।

त्वामृतेऽधीश नाद्वैर्मखः शोभते

शीर्षहीनः कबन्धो यथा पुरुषः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यजमानी—दक्ष की पत्नी ने; उवाच—प्रार्थना की; सु-आगतम्—शुभ आगमन; ते—आपका; प्रसीद—प्रसन्न हों; ईश—मेरे भगवान्; तुभ्यम्—तुमको; नमः—नमस्कार है; श्रीनिवास—हे सम्पत्ति की देवी के धाम; श्रिया—लक्ष्मी समेत; कान्तया—अपनी पत्नी; त्राहि—रक्षा करें; नः—हमारी; त्वाम्—तुम्हारे; ऋते—बिना; अधीश—हे परम नियंता; न—नहीं; अद्वैः—शारिरिक अंगों से; मखः—यज्ञ स्थल; शोभते—शोभा पाता है; शीर्ष-हीनः—शिर रहित; क-बन्धः—धड़; यथा—जिस प्रकार; पुरुषः—पुरुष।

दक्ष की पत्नी ने इस प्रकार प्रार्थना की—हे भगवान्, यह हमारा सौभाग्य है कि आप यज्ञस्थल में पधारे हैं। मैं आपको सादर नमस्कार करती हूँ और आपसे प्रार्थना करती हूँ कि इस अवसर पर आप प्रसन्न हों। यह यज्ञस्थल आपके बिना शोभा नहीं पा रहा था, जिस प्रकार कि सिर के बिना धड़ शोभा नहीं पाता।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु का अन्य नाम यज्ञेश्वर है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि सभी कर्म विष्णु की प्रसन्नता के लिए *विष्णु-यज्ञ* के रूप में सम्पन्न किए जाएँ। जब तक हम उन्हें प्रसन्न नहीं करते, हम जो कुछ भी करते हैं, वह हमारे भव-बन्धन का कारण हो जाता है। यहाँ पर इसकी पुष्टि दक्ष की पत्नी ने की है, “आपकी उपस्थिति के बिना, इस यज्ञ-महोत्सव का सारा ठाठ-बाट व्यर्थ है, जिस प्रकार सिरविहीन शरीर को कितना ही क्यों न सजाएँ, वह बेकार लगता है।” यह उपमा सामाजिक शरीर पर भी पूर्ण रूप से लागू होती है। आधुनिक सभ्यता को उन्नत होने का गर्व है, किन्तु यह सिरविहीन धड़ के सदृश बेकार है। कृष्णभावनाभावित हुए बिना, विष्णु को जाने बिना, सभ्यता कितनी ही उत्कृष्ट प्रगति क्यों न कर ले, किसी काम की नहीं। *हरि-भक्ति-सुधोदय* में (३.११) एक कथन है—

भगवद्भक्तिहीनस्य जातिः शास्त्रं जपस्तपः ।

अप्राणस्यैव देहस्य मण्डनं लोकरञ्जनम् ॥

इसका सारांश यह है कि जब विशेष रूप से छोटी जाति में कोई मित्र या परिजन मरता है, तो

उसके मृत शरीर को सजाया जाता है। इस प्रकार वस्त्र तथा अलंकारों से सजा कर शवयात्रा निकाली जाती है। इस प्रकार से शव के अलंकरण का वास्तव में कोई अर्थ नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो पहले ही निकल चुकी होती है। इसी प्रकार से कृष्णभावनामृत के बिना कोई राज्यतंत्र, कोई सामाजिक प्रतिष्ठा, या भौतिक सभ्यता की प्रगति अलंकृत शव के समान है। दक्ष की पत्नी का नाम प्रसूति था और वह स्वायंभुव मनु की पुत्री थी। उसकी बहन देवहूति कर्दम मुनि को ब्याही थी और वे भगवान् कपिल देव की माता थी। इस प्रकार प्रसूति भगवान् विष्णु की मौसी थी। वह भगवान् विष्णु से वत्सलतावश कृपाकामना कर रही थी; चूँकि वे उसकी मौसी थीं इसलिए उनसे विशेष कृपा चाह रही थीं। इस श्लोक की यह भी विशेषता है कि इसमें विष्णु की प्रशंसा लक्ष्मी के साथ-साथ की गई है। जहाँ भी विष्णु की पूजा की जाती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से लक्ष्मी जी की कृपा रहती है। भगवान् विष्णु को अमृत अथवा दिव्य कहा गया है। ब्रह्मा तथा शिव समेत सभी देवता सृष्टि के बाद उत्पन्न हुए, किन्तु विष्णु तो सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान थे। अतः उन्हें अमृत कहा गया है। वैष्णवजन विष्णु को उनकी अन्तरंगा शक्ति सहित पूजते हैं। दक्ष-पत्नी प्रसूति ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे पुरोहितों को वैष्णव बना दें जिससे वे सकाम फल के लिए मात्र यज्ञकर्ता न बने रहें।

लोकपाला ऊचुः

दृष्टः किं नो दृग्भिरसद्ग्रहैस्त्वं

प्रत्यग्द्रष्टा दृश्यते येन विश्वम् ।

माया ह्येषा भवदीया हि भूमन्

यस्त्वं षष्ठः पञ्चभिर्भासि भूतैः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

लोक-पाला:—विभिन्न लोकों के प्रशासकों ने; ऊचुः—कहा; दृष्टः—देखा हुआ; किम्—क्या; नः—हमारे द्वारा; दृग्भिः—इन्द्रियों से; असत्-ग्रहैः—दृश्य जगत को प्रकट करने वाले; त्वम्—तुम; प्रत्यक्-द्रष्टा—आन्तरिक साक्षी; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; माया—भौतिक जगत; हि—क्योंकि; एषा—यह; भवदीया—आपकी; हि—निश्चय ही; भूमन्—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; यः—क्योंकि; त्वम्—तुम; षष्ठः—छठवाँ; पञ्चभिः—पाँच; भासि—प्रकट होते हो; भूतैः—तत्त्वों से।

विभिन्न लोकों के लोकपालों ने इस प्रकार कहा : हे भगवन्, हम अपनी प्रत्यक्ष प्रतीति पर ही विश्वास करते हैं, किन्तु इस परिस्थिति में हम नहीं जानते कि हमने आपका दर्शन वास्तव में अपनी भौतिक इन्द्रियों से किया है अथवा नहीं। इन इन्द्रियों से तो हम दृश्य जगत को ही देख

पाते हैं, किन्तु आप तो पाँच तत्त्वों के परे हैं। आप तो छठवें तत्त्व हैं। अतः हम आपको भौतिक जगत की सृष्टि के रूप में देख रहे हैं।

तात्पर्य : विभिन्न लोकों के लोकपाल निश्चित रूप से ऐश्वर्यवान और अत्यन्त अभिमानी हैं। ऐसे लोग भगवान् के दिव्य-शाश्वत रूप को समझ पाने में असमर्थ होते हैं। *ब्रह्म संहिता* में कहा गया है कि जिन्होंने अपनी आँखों में ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा रखा है, वे लोग ही पद-पद पर भगवान् का दर्शन कर सकते हैं। यही नहीं, कुन्ती ने अपनी प्रार्थना में (*भागवत* १.८.२६) कहा है कि जो *अकिञ्चन-गोचरम्* हैं अर्थात् धन से फूले हुए नहीं रहते, वे ही भगवान् को देख सकते हैं; अन्य लोग मोहग्रस्त होने के कारण परम सत्य के विषय में सोच तक नहीं पाते।

योगेश्वरा ऊचुः

प्रेयान्न तेऽन्योऽस्त्यमुतस्त्वयि प्रभो

विश्वात्मनीक्षेत्र पृथग्य आत्मनः ।

अथापि भक्त्येश तयोपधावता-

मनन्यवृत्त्यानुगृहाण वत्सल ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

योग-ईश्वराः—परम योगीजनों ने; ऊचुः—कहा; प्रेयान्—अत्यन्त प्रिय; न—नहीं; ते—तुम्हारा; अन्यः—दूसरा; अस्ति—है; अमुतः—उससे; त्वयि—तुम में; प्रभो—हे ईश्वर; विश्व-आत्मनि—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा में; ईक्षेत्—देखते हैं; न—नहीं; पृथक्—भिन्न; यः—जो; आत्मनः—जीवात्माएँ; अथ अपि—और अधिक; भक्त्या—भक्ति से; ईश—हे भगवान्; तथा—उससे; उपधावताम्—पूजा करने वालों का; अनन्य-वृत्त्या—न चूकने वाला; अनुगृहाण—कृपा करें; वत्सल—हे हितकारी भगवान्।

महान् योगियों ने कहा : हे भगवान्, जो लोग यह जानते हुए कि आप समस्त जीवात्माओं के परमात्मा हैं, आपको अपने से अभिन्न देखते हैं, वे निश्चय ही आपको परम प्रिय हैं। जो आपको स्वामी तथा अपने आपको दास मानकर आपकी भक्ति में अनुरक्त रहते हैं, आप उन पर परम कृपालु रहते हैं। आप कृपावश उन पर सदैव हितकारी रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से इंगित है कि एकेश्वरवादी तथा परम योगीजन एक ही भगवान् जानते हैं। यह एकत्व कोई भ्रान्ति नहीं है कि जीवात्मा सभी प्रकार से भगवान् के समान हैं। यह एकेश्वरवाद विशुद्ध ज्ञान पर आधारित है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१७) में हुई है—*प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।* भगवान् कहते हैं कि जो दिव्य ज्ञान में आगे बढ़े हुए हैं और कृष्णचेतना विज्ञान

जानते हैं, वे ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं और उन्हें भी ईश्वर अत्यन्त प्रिय हैं। जिन्हें ईश्वर विज्ञान का वास्तव में सम्यक् ज्ञान है, वे जानते हैं कि जीवात्माएँ परमेश्वर की परा शक्ति हैं। यह *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में कहा गया है—भौतिक शक्ति निम्न शक्ति है और जीवात्मा पराशक्ति है। शक्ति तथा शक्तिमान अभिन्न हैं, अतः शक्ति में वही गुण हैं, जो शक्तिमान में हैं। जो लोग भगवान् के पूर्ण ज्ञान से युक्त हैं, वे उनकी विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करके अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेते हैं और वे भगवान् को परम प्रिय हैं। किन्तु ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो परमेश्वर के ज्ञान से भली-भाँति परिचित नहीं हैं, लेकिन उनके विषय में प्रेम तथा श्रद्धा से यह सोचते रहते हैं कि ईश्वर महान् है और वे उसके अंश रूप, नित्य दास हैं; वे उनके अधिक कृपापात्र होते हैं। इस श्लोक की विशिष्टता यह है कि इसमें भगवान् को *वत्सल* कहा गया है। *वत्सल* का अर्थ है, “सदैव अनुकूल होना।” भगवान् का नाम *भक्तवत्सल* है। भगवान् *भक्तवत्सल* के नाम से विख्यात हैं जिसका अर्थ यह हुआ कि वे भक्तों पर सदैव अनुकूल रहते हैं। उन्हें वैदिक साहित्य में कहीं भी *ज्ञानी-वत्सल* नहीं कहा गया।

जगदुद्भवस्थितिलयेषु दैवतो

बहुभिद्यमानगुणयात्ममायया ।

रचितात्मभेदमतये स्वसंस्थया

विनिवर्तितभ्रमगुणात्मने नमः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

जगत्—भौतिक जगत; उद्भव—सृष्टि; स्थिति—पालन; लयेषु—संहार में; दैवतः—भाग्य; बहु—अनेक; भिद्यमान—भिन्नता; गुणया—भौतिक गुणों के द्वारा; आत्म-मायया—अपनी भौतिक शक्ति से; रचित—उत्पन्न; आत्म—जीवात्माओं; भेद-मतये—भिन्न-भिन्न विचारों को उत्पन्न करने वाली भेदबुद्धि; स्व-संस्थया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; विनिवर्तित—रोका गया; भ्रम—बन्धन; गुण—भौतिक गुणों का; आत्मने—उनके साक्षात् रूप को; नमः—नमस्कार।

हम उन परम पुरुष को सादर नमस्कार करते हैं जिन्होंने नाना प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न कीं और उन्हें भौतिक जगत के त्रिगुणों के वशीभूत कर दिया जिससे उनकी उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार हो सके। वे स्वयं बहिरंगा शक्ति के अधीन नहीं हैं, वे साक्षात् रूप में भौतिक गुणों के विविध प्राकट्य से रहित हैं और मिथ्या मायामोह से दूर हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो स्थितियों का वर्णन है। एक तो भौतिक जगत की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय है और दूसरी है भगवान् की अपनी अवस्थिति। भगवान् के अपने धाम, अर्थात् अपने राज्य में

भी गुण या विशेषता है। यहाँ पर कहा गया है कि उनका निजी स्थान गोलोक है। गोलोक में भी विशेषता है, लेकिन वह विशेषता उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय में बँटी नहीं है। बाह्य शक्ति में तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती हैं, किन्तु वैकुण्ठ जगत अर्थात् ईश्वर के राज्य में ऐसा नहीं होता क्योंकि वहाँ तो सब कुछ शाश्वत तथा आनन्दमय है। इस भौतिक जगत में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्राकट्य को कुछ दार्शनिक ठीक से नहीं समझ पाते। उनका विचार है कि जब भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे भी इस संसार के अन्य जीवात्माओं की तरह त्रिगुणों के वश में रहते हैं। यह उनका भ्रम है। यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है (स्व-संस्थया) कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन भौतिक गुणों से अतीत हैं। इसी प्रकार *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं “मैं अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।” अन्तरंगा तथा बहिरंगा ये दोनों शक्तियाँ परम पुरुष के अधीन हैं, अतः वे दोनों में से किसी के वश में नहीं होते, अपितु सब कुछ उन्हीं के अधीन है। अपने नाम, रूप, गुण, लीला तथा साज-सामग्री को प्रकट करने के लिए ही वे अपनी अन्तरंगा शक्ति का प्रयोग करते हैं। बाह्यशक्ति की विविधता के कारण अनेक प्रकार के देवताओं का प्राकट्य होता है जिनमें सबसे पहले ब्रह्मा तथा शिव हुए और उन गुणात्मक देवताओं के भौतिक गुणों के अनुसार लोग उनकी ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु जब कोई भौतिक गुणों से ऊपर उठ जाता है, तो वह मात्र भगवान् की पूजा में स्थिर हो जाता है। इस तथ्य की व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है—जो भगवान् की सेवा में अनुरक्त है, वह पहले ही त्रिगुणों की विविधता तथा बन्धन से अतीत होता है। सारांश यह है कि भौतिक गुणों के कर्म तथा बन्धन द्वारा बद्धजीवों में खींचातानी लगी रहती है, जिससे शक्तियों में भिन्नता आती है। किन्तु आध्यात्मिक जगत में परमेश्वर ही एकमात्र पूज्य हैं।

ब्रह्मोवाच

नमस्ते श्रितसत्त्वाय धर्मादीनां च सूतये ।

निर्गुणाय च यत्काष्ठां नाहं वेदापरेऽपि च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

ब्रह्म—साक्षात् वेद ने; उवाच—कहा; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुमको; श्रित-सत्त्वाय—सतोगुण के आश्रय; धर्म-आदीनाम्—समस्त धर्म तथा तपस्या; च—तथा; सूतये—स्रोत; निर्गुणाय—भौतिक गुणों से परे; च—तथा; यत्—जिसका (परमेश्वर का); काष्ठां—स्थिति; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; अपरे—अन्य; अपि—निश्चय ही; च—तथा।

साक्षात् वेदों ने कहा : हे भगवान्, हम आपको सादर नमस्कार करते हैं, क्योंकि आप सतोगुण के आश्रय होने के कारण समस्त धर्म तथा तपस्या के स्रोत हैं; आप समस्त भौतिक गुणों से परे हैं और कोई भी न तो आपको और न आपकी वास्तविक स्थिति को जानने वाला है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में तीन गुणों की त्रिवेणी है। भगवान् विष्णु ने सतोगुण के अधीक्षण का भार स्वीकार कर रखा है, जो धर्म, ज्ञान, तपस्या, त्याग, ऐश्वर्य आदि का स्रोत है। इसीलिए जब भौतिक जगत में जीवात्माएँ सतोगुण के अधीन होती हैं, तो वास्तविक शान्ति, समृद्धि, ज्ञान तथा धर्म की प्राप्ति होती है। किन्तु ज्योंही वे अन्य दो गुणों, रजो तथा तमो गुणों, के अधीन होती हैं कि उनकी बद्धजीवन की दशा असह्य हो उठती है। किन्तु भगवान् विष्णु अपनी आदि स्थिति में सदा निर्गुण हैं, अर्थात् इन तीन गुणों से परे हैं। निर्गुण का अर्थ है “गुण से रहित” किन्तु इससे यह नहीं सूचित होता कि भगवान् में गुण नहीं हैं। उनमें दिव्य गुण होते हैं जिनसे वे प्रकट होते और लीलाएँ करते हैं। दिव्यगुण का प्रकटीकरण न तो वेदविदों को ज्ञात है और न ही ब्रह्मा तथा शिव जैसे महान् देवताओं को। वस्तुतः ये दिव्यगुण केवल भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है केवल भक्ति करने से भगवान् की दिव्य स्थिति को समझा जा सकता है। जो सतोगुणी हैं, वे आंशिक रूप से दिव्य-ज्ञान में प्रवेश कर सकते हैं, किन्तु *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को इससे भी आगे जाना होता है। वैदिक नियम प्रकृति के तीन गुणों पर आधारित हैं। इन तीनों गुणों को पार करके ही शुद्ध तथा सरल आध्यात्मिक जीवन पाया जा सकता है।

अग्निरुवाच

यत्तेजसाहं सुसमिद्धतेजा

हव्यं वहे स्वध्वर आज्यसिक्तम् ।

तं यज्ञियं पञ्चविधं च पञ्चभिः

स्विष्टं यजुर्भिः प्रणतोऽस्मि यज्ञम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्निदेव ने; उवाच—कहा; यत्-तेजसा—जिसके तेज से; अहम्—मैं; सु-समिद्ध-तेजाः—प्रज्वलित अग्नि के समान तेजवान; हव्यम्—आहुतियाँ; वहे—स्वीकार करता हूँ; सु-अध्वरे—यज्ञ में; आज्य-सिक्तम्—घृतमिश्रित; तम्—वह;

यज्ञियम्—यज्ञ का रक्षक; पञ्च-विधम्—पाँच; च—तथा; पञ्चभिः—पाँच द्वारा; सु-इष्टम्—पूज्य; यजुभिः—वैदिक मंत्र; प्रणतः—सादर नत; अस्मि—मैं हूँ; यज्ञम्—यज्ञ (विष्णु) को।

अग्निदेव ने कहा : हे भगवान्, मैं आपको सादर नमस्कार करता हूँ, क्योंकि आपकी ही कृपा से मैं प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी हूँ और मैं यज्ञ में प्रदत्त घृतमिश्रित आहुतियाँ स्वीकार करता हूँ। यजुर्वेद में वर्णित पाँच प्रकार की हवियाँ आपकी ही विभिन्न शक्तियाँ हैं और आपकी पूजा पाँच प्रकार के वैदिक मंत्रों से की जाती है। यज्ञ का अर्थ ही आप अर्थात् परम भगवान् है।

तात्पर्य : भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् विष्णु के लिए यज्ञ करने चाहिए। विष्णु के विख्यात एक सहस्र दिव्य नाम हैं जिनमें से एक नाम है यज्ञ। यह स्पष्ट कहा गया है कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ किया जाये। मनुष्य द्वारा किये गये अन्य सारे कार्य उसके बन्धन के कारण बनते हैं। सबों को वैदिक मंत्रों के अनुसार यज्ञ करने होते हैं। उपनिषदों में बताया गया है कि अग्नि, वेदी, शुभ पूर्णचन्द्र, चातुर्मास्य, बलिपशु तथा सोम—ये आवश्यक वस्तुएँ हैं, जिस तरह वेदों में वर्णित विशिष्ट मंत्र हैं, जो चार अक्षरों से निर्मित होते हैं। एक मंत्र इस प्रकार है—*आश्रावयेति चतुराक्षरं अस्तु श्रौषदिति चतुराक्षरं यजेति द्वाभ्यां ये यजामहः।* ये मंत्र श्रुति तथा स्मृति के अनुसार उच्चरित होकर मात्र भगवान् विष्णु को प्रसन्न करने वाले हैं। जो लोग भौतिक रूप से बद्ध हैं और भौतिक सुख के प्रति आसक्त हैं उनके मोक्ष के लिए यज्ञ करना तथा वर्णाश्रम धर्म तथा आध्यात्मिक जीवन का पालन आवश्यक बताया गया है। *विष्णु-पुराण* में कहा गया है कि विष्णु के लिए यज्ञ करने से मनुष्य धीरे-धीरे मुक्त हो सकता है। अतः जीवन का सारा लक्ष्य भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही यज्ञ है। जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित है, वह अपना जीवन कृष्ण को, जो समस्त विष्णु रूपों के मूल हैं, प्रसन्न करने में लगा देता है और नित्य पूजा करके तथा प्रसाद चढ़ा कर सर्वश्रेष्ठ यज्ञकर्ता बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* में स्पष्ट कहा गया है कि इस कलियुग में एकमात्र यज्ञ तो यज्ञै *संकीर्तनप्रायैः* है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ यज्ञ तो केवल हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम, राम, हरे हरे, मंत्र का कीर्तन है। यह यज्ञ भगवान् चैतन्य के चित्र अर्थात् स्वरूप के समक्ष किया जाता है, जिस तरह अन्य यज्ञ भगवान् विष्णु के अर्चा-विग्रह के समक्ष किये जाते हैं। ये स्तुतियाँ

श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दी हुई हैं। साथ ही, इस यज्ञ से इसकी पुष्टि होती है कि चैतन्य महाप्रभु स्वयं विष्णु हैं। जिस प्रकार बहुत पहले भगवान् विष्णु दक्ष के यज्ञ में प्रकट हुए थे उसी प्रकार इस युग में हमारे संकीर्तन यज्ञ को स्वीकार करने के लिए भगवान् चैतन्य प्रकट हुए।

देवा ऊचुः

पुरा कल्पापाये स्वकृतमुदरीकृत्य विकृतं

त्वमेवाद्यस्तस्मिन्सलिल उरगेन्द्राधिशयने ।

पुमान्शेषे सिद्धैर्हृदि विमृशिताध्यात्मपदविः

स एवाद्याक्षणोर्यः पथि चरसि भृत्यानवसि नः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; पुरा—पहले, पूर्व; कल्प-अपाये—कल्पान्त में; स्व-कृतम्—आत्म-प्रसूत; उदरी-कृत्य—उदरस्थ करके; विकृतम्—प्रभाव; त्वम्—तुम; एव—निश्चय ही; आद्यः—आदि; तस्मिन्—उसमें; सलिले—जल में; उरग-इन्द्र—शेष पर; अधिशयने—शय्या पर; पुमान्—पुरुष; शेषे—शयन करते हुए; सिद्धैः—मुक्तात्माओं (यथा सनकादि) द्वारा.); हृदि—हृदय में; विमृशित—ध्यान किया गया; अध्यात्म-पदविः—दार्शनिक चिन्तन का मार्ग; सः—वह; एव—निश्चय ही; अद्य—अब; अक्षणोः—दोनों नेत्रों का; यः—जो; पथि—पथ पर; चरसि—चलते हो; भृत्यान्—दास; अवसि—रक्षा करो; नः—हमारी।

देवताओं ने कहा : हे भगवान्, पहले जब प्रलय हुआ था, तो आपने भौतिक जगत की विभिन्न शक्तियों को संरक्षित कर लिया था। उस समय ऊर्ध्वलोकों के सभी वासी, जिनमें सनक जैसे मुक्त जीव भी थे, दार्शनिक चिन्तन द्वारा आपका ध्यान कर रहे थे। अतः आप आदिपुरुष हैं। आप प्रलयकालीन जल में शेषशय्या पर शयन करते हैं। अब आज आप हमारे के समक्ष दिख रहे हैं। हम सभी आप के दास हैं। कृपया हमें शरण दीजिये।

तात्पर्य : इस श्लोक में जिस आंशिक प्रलय का उल्लेख है, वह इस ब्रह्माण्ड के ही अन्तर्गत निम्न लोकों का आंशिक प्रलय है जब ब्रह्मा निद्रा में रहते हैं। इस प्रलय के समय उच्चतर लोक, जो महर्लोक, जनलोक और तपोलोक इत्यादि हैं, जलमग्न नहीं होते। जैसा इस श्लोक में कहा गया है, भगवान् ही स्रष्टा हैं, क्योंकि सृष्टि की शक्तियाँ उनके शरीर से प्रकट होती हैं और प्रलय के बाद वे इन समस्त शक्तियों को उदरस्थ कर लेते हैं।

इस श्लोक में दूसरा महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, जो देवताओं ने कहा, वह यह है “हम सभी आपके दास (भृत्यान्) हैं। हमें संरक्षण दीजिए।” देवता अपनी रक्षा के लिए विष्णु पर आश्रित रहते हैं, क्योंकि वे स्वतंत्र नहीं हैं। अतः भगवद्गीता देवताओं की पूजा की भर्त्सना करती है, क्योंकि इसकी कोई

आवश्यकता नहीं है और साफ-साफ कहा गया है कि जिनकी मति मारी गई है वे ही देवताओं से अनुग्रह की कामना करते हैं। सामान्य रूप से यदि किसी की कोई भौतिक इच्छा है, तो उसकी पूर्ति के लिए वह अन्य देवताओं के पास न जाकर विष्णु से याचना कर सकता है। जो देवताओं को पूजते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं हैं। इसके साथ-साथ देवता कह रहे हैं, “हम आपके नित्य दास हैं।” अतः जो भगवान् के दास या भक्त हैं, वे सकाम कर्मों से, यथा यज्ञ या मानसिक चिन्तन से, अधिक वास्ता नहीं रखते। वे सहजभाव से निष्ठापूर्वक भगवान् की सेवा करते हैं और हर कार्य अत्यन्त प्रेम तथा श्रद्धा से करते हैं, अतः भगवान् ऐसे भक्तों की प्रत्यक्ष संरक्षण प्रदान करते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, “मेरी शरण में आओ और मैं समस्त पापकर्मों के बन्धनों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।” इस भौतिक जगत की सृष्टि ही ऐसे हुई है कि हर एक को जाने या अनजाने पापकर्म करने होते हैं और जब तक वह विष्णु को अपना जीवन समर्पित नहीं कर देता, उसे समस्त पापकर्मों के फल सहने पड़ते हैं। किन्तु जो भगवान् को आत्मसमर्पण करके अपना जीवन उनकी सेवा में लगा देता है उसकी वे प्रत्यक्ष रक्षा करते हैं। उसे न तो पापकर्मों के फल का डर रह जाता है, नही जाने अथवा अनजाने किसी ऐसे कर्म को, करने की इच्छा होती है, जो पापमय हो।

गन्धर्वा ऊचुः

अंशांशास्ते देव मरीच्यादय एते

ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।

क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्

तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

गन्धर्वाः—गंधर्वों ने; ऊचुः—कहा; अंश-अंशाः—आपके शरीर के विभिन्न अंश; ते—तुम्हारे; देव—हे भगवान्; मरीचि-आदयः—मरीचि तथा अन्य ऋषिगण; एते—ये; ब्रह्म-इन्द्र-आद्याः—ब्रह्मा, इन्द्र इत्यादि; देव-गणाः—देवता; रुद्र-पुरोगाः—शिव ही जिनके प्रधान हैं; क्रीडा-भाण्डम्—खिलौना; विश्वम्—सारी सृष्टि; इदम्—यह; यस्य—जिसका; विभूमन्—भगवान्; तस्मै—उसको; नित्यम्—सदैव; नाथ—हे भगवान्; नमः—सादर नमस्कार; ते—तुमको; करवाम—हम करते हैं।

गन्धर्वों ने कहा : हे भगवान्, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा मरीचि समेत समस्त देवता तथा ऋषिगण आपके ही शरीर के विभिन्न अंश हैं। आप परम शक्तिमान हैं, यह सारी सृष्टि आपके लिए खिलवाड़ मात्र है। हम सदैव आपको पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् रूप में स्वीकार करते हैं और आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। वैसे तो ब्रह्मा, शिव, इन्द्र तथा चन्द्र से लेकर निम्न लोकों के शासकों, अध्यक्षों, मंत्रियों, सभापतियों तथा राजाओं तक अनेक देवता हैं और कोई भी उन्हें ईश्वर मान सकता है, किन्तु यह भौतिक जीवन का मिथ्या अहंकार है। वास्तव में विष्णु परमेश्वर हैं, किन्तु इनसे भी ऊपर श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि विष्णु उनके अंश हैं। इस श्लोक में इसका निर्देश *अंशांशाः* शब्द से दिया गया है, जिसका अर्थ है अंश का भी अंश। *चैतन्यचरितामृत* में ऐसे अनेक श्लोक हैं, जो बताते हैं कि परमेश्वर के अंश किस प्रकार आगे अंशों में विस्तार करते जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में वर्णित है विष्णु तथा जीवात्मा दोनों के ही अनेकानेक रूप हैं। विष्णु के रूप *स्वांश* कहलाते हैं और जीवात्मा के *विभिन्नांश*। ब्रह्मा तथा इन्द्र जैसे देवताओं को उनके पुण्यकर्मों तथा तपस्या के कारण उच्च स्थान प्रदान किया गया है, किन्तु विष्णु अथवा कृष्ण ही सबके स्वामी हैं। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है— *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*। इसका अर्थ यह हुआ कि अकेले श्रीकृष्ण भगवान् हैं और अन्य सब, यहाँ तक कि विष्णुतत्त्व तथा जीवात्माएँ भी उनके दास हैं। बलदेव कृष्ण के तुरन्त बाद के विस्तार हैं। वे भी कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं और सामान्य जीवात्माएँ तो सेवा करती ही हैं। स्वाभाविक रूप से सबों का जन्म कृष्ण की सेवा करने के लिए हुआ है। यहाँ पर गन्धर्वों की स्वीकारोक्ति है कि यद्यपि देवता अपने को सर्वोपरि मान सकते हैं, किन्तु वास्तव में वे ऐसे होते नहीं। वास्तविक श्रेष्ठता तो कृष्ण की है। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयं*—यह वचन *श्रीमद्भागवत* का है। कृष्ण ही एकमात्र परम ईश्वर है। अतः अकेले कृष्ण की पूजा में सभी अंशों की पूजा सम्मिलित है, जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने से उसकी शाखाएँ, पत्तियाँ, फूल सभी सिंच जाते हैं।

विद्याधरा ऊचुः

त्वन्माययार्थमभिपद्य कलेवरेऽस्मिन्

कृत्वा ममाहमिति दुर्मतिरुत्पथैः स्वैः ।

क्षिप्तोऽप्यसद्विषयलालस आत्ममोहं

युष्मत्कथामृतनिषेवक उद्व्युदस्येत् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

विद्याधराः—विद्याधरो ने; ऊचुः—कहा; त्वत्-मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; अर्थम्—मानव शरीर; अभिपद्य—प्राप्त करके; कलेवरे—शरीर में; अस्मिन्—इस; कृत्वा—ठीक से न पहचान करके; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; दुर्मतिः—अज्ञानी पुरुष; उत्पथैः—गलत मार्ग से; स्वैः—स्वजनों के द्वारा; क्षिप्तः—विपथ; अपि—भी; असत्—क्षणिक;

विषय-लालसः—भोग की वस्तुओं में सुख मानकर; आत्म-मोहम्—देह को आत्मा मानने का मोह; युष्मत्—आपकी; कथा—कथा, वार्ता; अमृत—अमृत; निषेवकः—आस्वादन करता हुआ; उत्—दूर से; व्युदस्येत्—उद्धार हो सकता है।

विद्याधरों ने कहा : हे प्रभु, यह मानव देह सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करने के निमित्त है, किन्तु आपकी बहिरंगा शक्ति के वशीभूत होकर जीवात्मा अपने आपको भ्रमवश देह तथा भौतिक शक्ति मान बैठता है, अतः माया के वश में आकर वह सांसारिक भोग द्वारा सुखी बनना चाहता है। वह दिग्भ्रमित हो जाता है और क्षणिक माया-सुख के प्रति सदैव आकर्षित होता रहता है। किन्तु आपके दिव्य कार्यकलाप इतने प्रबल हैं कि यदि कोई उनके श्रवण तथा कीर्तन में अपने को लगाए तो मोह से उसका उद्धार हो सकता है।

तात्पर्य : यह मनुष्य जीवन अर्थद कहलाता है, क्योंकि आत्मा को परम सिद्धि प्राप्त करने में यह शरीर अत्यन्त सहायक बन सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा कि यद्यपि यह शरीर क्षणिक है, तो भी यह हमें उच्चतम सिद्धि प्रदान कर सकता है। निम्न योनि से उच्च योनि के विकास क्रम में मनुष्य जीवन एक वरदान के समान है। किन्तु माया इतनी प्रबल है कि हम मनुष्य जीवन के इस महान् वरदान को प्राप्त करने के बावजूद क्षणिक भौतिक सुख के फेर में पड़कर अपने जीवन के उद्देश्य को भूल जाते हैं। हम ऐसी वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते हैं, जो नश्वर हैं। ऐसे आकर्षण का प्रारम्भिक कारण यह नश्वर देह है। जीवन की ऐसी भयानक स्थिति में मुक्ति का एक ही मार्ग है कि परम-ईश्वर के दिव्य कार्यकलापों का कीर्तन किया जाये और उनके पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का श्रवण किया जाय। युष्मत्-कथामृत-निषेवकः का अर्थ है, “जो आपकी कथाओं, के अमृत का पान करने में लगे रहते हैं।” कृष्ण के उपदेशों तथा कार्यकलापों से सम्बन्धित दो विशेष ग्रन्थ हैं। *भगवद्गीता* कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश है और *श्रीमद्भागवत* विशिष्ट रूप से कृष्ण एवं उनके भक्तों की कथाओं से सम्बन्धित है। ये दोनों ग्रन्थ श्रीकृष्ण के विशेष वचनमृत हैं। जो कोई इन दोनों वैदिक ग्रन्थों के प्रचार कार्य में लगा रहता है उसके लिए माया द्वारा लादे गये बद्ध जीवन से छुटकारा पाना सरल है। मोह की बात यह है कि बद्धजीव अपने आत्म-स्वरूप को जानना नहीं चाहता। वह बाह्य शरीर में अधिक रुचि रखता है, जो एक चकाचौंध के अतिरिक्त कुछ नहीं है और एक निश्चित समय आते ही समाप्त हो जाएगा। जब जीवात्मा

को एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करना पड़ेगा तो सारा वातावरण बदल जाएगा। तब वह पुनः माया के वश में भिन्न वातावरण में सन्तुष्ट हो जाएगा। यह माया का जादू आवरणात्मिका शक्ति कहलाता है क्योंकि यह इतना प्रबल होता है कि जीवात्मा घृणित से घृणित परिस्थिति में सन्तुष्ट रहता है। यदि वह मल-मूत्र के बीच आँत में या उदर में एक कीड़े के रूप में भी उत्पन्न हो तो भी वह प्रसन्न रहता है। यही माया का आवरण है। किन्तु मनुष्य जीवन ज्ञान-प्राप्ति के लिए एक अवसर है और यदि कोई इस अवसर को हाथ से जाने देता है, तो वह परम अभागा है। माया से बचने का एकमात्र उपाय है अपने को कृष्ण-कथा में लगाये रखना। भगवान् चैतन्य ने ऐसी विधि बताई है कि जिससे हर प्राणी बिना परिवर्तन के अपनी वर्तमान स्थिति में बना रह सकता है, बस उसे समुचित प्रामाणिक स्रोतों से कृष्ण के सम्बन्ध में श्रवण करना होता है। भगवान् चैतन्य ने हर एक को “कृष्ण” शब्द का प्रसार करने का उपदेश दिया। उनका उपदेश है, “आप सभी गुरु बन जाएँ। आपका एकमात्र कार्य होगा कि आप जिससे भी मिलें उससे कृष्ण के विषय में या उनके उपदेशों के बारे में बातें करें।” अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इसी उद्देश्य से कार्यशील है। हम किसी से यह नहीं कहते कि आने के पूर्व वह अपनी स्थिति बदल ले अपितु हम हर एक को अपने पास बुलाते हैं और हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे मंत्र का कीर्तन करने के लिए कहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि यदि कोई केवल कृष्ण का कीर्तन करता है और कृष्ण की कथा को सुनता है, तो उसका जीवन बदल जाएगा, उसे नया आलोक प्राप्त होगा और उसका जीवन सफल हो जाएगा।

ब्राह्मणा ऊचुः

त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं

त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च ।

त्वं सदस्यत्विजो दम्पती देवता

अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

ब्राह्मणाः—ब्राह्मणों ने; ऊचुः—कहा; त्वम्—तुम; क्रतुः—यज्ञ; त्वम्—तुम; हविः—घी की आहुति; त्वम्—तुम; हुत-आशः—अग्नि; स्वयम्—साक्षात्; त्वम्—तुम; हि—क्योंकि; मन्त्रः—वैदिक मंत्र; समित्-दर्भ-पात्राणि—ईधन, कुश तथा यज्ञ के पात्र; च—तथा; त्वम्—तुम; सदस्य—सभा के सदस्य; ऋत्विजः—पुरोहित; दम्पती—यजमान तथा उसकी पत्नी; देवता—देवता; अग्नि-होत्रम्—पवित्र अग्नि-उत्सव; स्वधा—पितरों की हवि; सोमः—सोम पादप; आज्यम्—घृत; पशुः—यज्ञ का पशु।

ब्राह्मणों ने कहा : हे भगवान्, आप साक्षात् यज्ञ हैं। आप ही घृत की आहुति हैं; आप अग्नि हैं; आप वैदिक मंत्रों के उच्चारण हैं, जिनसे यज्ञ कराया जाता है; आप ईंधन हैं; आप ज्वाला हैं; आप कुश हैं और आप ही यज्ञ के पात्र हैं। आप यज्ञकर्ता पुरोहित हैं, इन्द्र आदि देवतागण आप ही हैं और आप यज्ञ-पशु हैं। जो कुछ भी यज्ञ में अर्पित किया जाता है, वह आप या आपकी शक्ति है।

तात्पर्य : इस कथन में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापकता का आंशिक वर्णन हुआ है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर अपनी उष्मा तथा प्रकाश को सर्वत्र फैलाती है, उसी प्रकार जो भी भौतिक या आध्यात्मिक लोकों में दिखाई पड़ता है, वह भगवान् की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। यहाँ पर सभी ब्राह्मण कह रहे हैं कि भगवान् विष्णु अग्नि, हवि, घृत, यज्ञ पात्र, यज्ञस्थल तथा कुश सभी कुछ हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि हुई है कि इस युग में *संकीर्तन* यज्ञ अन्य कालों में किये गये अन्य समस्त यज्ञों के समान ही उत्तम है। यदि कोई हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, मंत्र का जाप करते हुए *संकीर्तन यज्ञ* करता है, तो वेदों में वर्णित यज्ञ-उत्सव के लिए तमाम सामग्री का विशाल आयोजन वृथा है। हरे कृष्ण *संकीर्तन* में हरे का अर्थ है कृष्ण की शक्ति और कृष्ण का अर्थ है *विष्णुतत्त्व*। दोनों मिलकर सब कुछ बन जाते हैं। इस युग में सारे मनुष्य कलियुग के प्रभाव से पीड़ित हैं और वे यज्ञ करने के लिए वेदों में उल्लिखित समस्त सामग्री का प्रबन्ध नहीं कर सकते। किन्तु यदि कोई केवल हरे कृष्ण का जप करता है, तो यह समझा जाता है कि वह सभी प्रकार के यज्ञ कर रहा है, क्योंकि हमारी दृष्टि में हरे (कृष्ण की शक्ति) तथा कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कृष्ण तथा उनकी शक्ति के बीच कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार क्योंकि हर एक वस्तु में उनकी शक्ति का प्रदर्शन है, अतः यह समझना चाहिए कि हर वस्तु कृष्ण है। मनुष्य को कृष्णभावनाभावित होकर प्रत्येक वस्तु स्वीकार करनी बनेगा, तभी वह मुक्त पुरुष होगा। उसे यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण है, अतः कृष्ण का कोई व्यक्तिगत स्वरूप नहीं है। कृष्ण इतने पूर्ण हैं कि यदि उन्हें अपनी शक्ति द्वारा प्रत्येक वस्तु से पृथक् रखे जाने पर भी वे सबकुछ हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में की गई है। वे सृष्टि भर में प्रत्येक वस्तु के रूप

में विस्तीर्ण हैं, फिर भी वे प्रत्येक वस्तु नहीं हैं। भगवान् चैतन्य द्वारा संस्तुत दर्शन कहता है कि वे एक ही साथ एक और भिन्न-भिन्न हैं।

त्वं पुरा गां रसाया महासूकरो
 दंष्ट्रया पद्मिनीं वारणेन्द्रो यथा ।
 स्तूयमानो नदल्लीलया योगिभि-
 व्युज्जहर्थं त्रयीगात्र यज्ञक्रतुः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; पुरा—भूतकाल में; गाम्—पृथ्वी; रसाया:—जल के भीतर से; महा-सूकरः—महान् सूकर अवतार; दंष्ट्रया—अपनी दाढ़ से; पद्मिनीम्—कमलिनी; वारण-इन्द्रः—हाथी; यथा—जिस प्रकार; स्तूयमानः—स्तुति किया गया; नदन्—गूँजता हुआ; लीलया—सरलता से; योगिभिः—सनक इत्यादि परम साधुओं द्वारा.; व्युज्जहर्थं—ऊपर उठाया; त्रयी-गात्र—हे साक्षात् वैदिक ज्ञान; यज्ञ-क्रतुः—यज्ञ के रूप में।

हे भगवान्, हे साक्षात् वैदिक ज्ञान, अत्यन्त पुरातन काल पहले, पिछले युग में जब आप महान् सूकर अवतार के रूप में प्रकट हुए थे तो आपने पृथ्वी को जल के भीतर से इस प्रकार ऊपर उठा लिया था जिस प्रकार कोई हाथी सरोवर में से कमलिनी को उठा लाता है। जब आपने उस विराट सूकर रूप में दिव्य गर्जन किया, तो उस ध्वनि को यज्ञ मंत्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया और सनक जैसे महान् ऋषियों ने उसका ध्यान करते हुए आपकी स्तुति की।

तात्पर्य : इस श्लोक में एक महत्त्वपूर्ण शब्द त्रयीगात्र आया है, जिसका अर्थ है कि भगवान् का दिव्य रूप वेद हैं। जो कोई भगवान् के अर्चाविग्रह या रूप की पूजा मन्दिर में करता है, तो यह समझा जाता है कि वह चौबीसों घंटे वेदों का पाठ करता है। यदि कोई मन्दिर में भगवान् अर्थात् राधा तथा कृष्ण की मूर्तियों को अलंकृत करता है, तो वह अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ वैदिक आदेशों का अध्ययन करता होता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित भक्त भी, जो अर्चा-विग्रह की पूजा में अपने को लगाता है, वैदिक ज्ञान के सारभाग के सम्पर्क में रहता समझा जाता है। जैसाकि भगवद्गीता (१५.१५) में पुष्टि हुई है—वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः—वेदों का तात्पर्य कृष्ण को समझना है। जो कृष्ण की पूजा तथा सेवा करता है, वह वेदों के सत्य को जानता है।

स प्रसीद त्वमस्माकमाकाङ्क्षतां

दर्शनं ते परिभ्रष्टसत्कर्मणाम् ।
 कीर्त्यमाने नृभिर्नाम्नि यज्ञेश ते
 यज्ञविघ्नाः क्षयं यान्ति तस्मै नमः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

सः—वही व्यक्ति; प्रसीद—प्रसन्न हों; त्वम्—आप; अस्माकम्—हम पर; आकाङ्क्षताम्—प्रतीक्षा करते हुए; दर्शनम्—दर्शन; ते—तुम्हारा; परिभ्रष्ट—पतित; सत्-कर्मणाम्—जिससे यज्ञ कार्य; कीर्त्यमाने—कीर्तन किया जाकर; नृभिः—पुरुषों द्वारा; नाम्नि—आपका पवित्र नाम; यज्ञ-ईश—हे यज्ञों के स्वामी; ते—तुम्हारा; यज्ञ-विघ्नाः—बाधाएँ; क्षयम्—विनाश; यान्ति—प्राप्त करते हैं; तस्मै—तुमको; नमः—नमस्कार है।

हे भगवान्, हम आपके दर्शन के लिए प्रतीक्षारत थे क्योंकि हम वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार यज्ञ करने में असमर्थ रहे हैं। अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हम पर प्रसन्न हों। आपके पवित्र नाम-कीर्तन मात्र से समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं। हम आपके समक्ष आपको सादर नमस्कार करते हैं।

तात्पर्य : ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त आशान्वित हुए कि भगवान् विष्णु के आ जाने से अब उनका यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हो सकेगा। इस श्लोक में ब्राह्मणों का यह कथन सारगर्भित हैं, “आपके पवित्र नाम का जप करके ही हम बाधाओं को पार कर सकते हैं, किन्तु आप इस समय साक्षात् उपस्थित हैं।” दक्ष का यज्ञ शिव के अनुचरों तथा शिष्यों द्वारा बाधित कर दिया गया था। एक तरह से ब्राह्मणों ने शिव के अनुचरों की आलोचना की, किन्तु चूँकि ब्राह्मण भगवान् विष्णु द्वारा सदा रक्षित हैं, अतः शिव के अनुचर उनके यज्ञ में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं कर सकते थे। कहावत है, “जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय” और जब कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, तो उसको कोई बचा भी नहीं सकता। इसका ज्वलन्त प्रमाण रावण है। रावण शिव का महान् भक्त था, किन्तु जब भगवान् रामचन्द्र ने उसे मारना चाहा तो शिव उसकी रक्षा नहीं कर पाये। यदि कोई देवता, चाहे वह शिव या ब्रह्मा ही क्यों न हों, किसी भक्त को हानि पहुँचाना चाहता है, तो कृष्ण उसकी रक्षा करते हैं। किन्तु यदि कृष्ण किसी को मारना चाहते हैं, जैसे कि रावण या हिरण्यकशिपु को, तो कोई भी देवता उसकी रक्षा नहीं कर पाता।

मैत्रेय उवाच

इति दक्षः कविर्यज्ञं भद्र रुद्राभिमर्शितम् ।
 कीर्त्यमाने हृषीकेशे सन्नित्ये यज्ञभावने ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय ने; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; दक्षः—दक्ष; कविः—चेतना के परिशुद्ध हो जाने पर; यज्ञम्—यज्ञ; भद्र—हे विदुर; रुद्र-अभिमर्शितम्—वीरभद्र द्वारा विध्वंसित; कीर्त्य-माने—महिमा का वर्णन किये जाने पर; हृषीकेशे—भगवान् विष्णु; सन्निये—पुनः प्रारम्भ करने की व्यवस्था की; यज्ञ-भावने—यज्ञ का रक्षक।

श्रीमैत्रेय ने कहा : वहाँ पर उपस्थित सबों के द्वारा विष्णु की स्तुति किये जाने पर दक्ष ने अन्तःकरण शुद्ध हो जाने से पुनः यज्ञ प्रारम्भ किये जाने की व्यवस्था की, जिसे शिव के अनुचरों ने ध्वंस कर दिया था।

भगवान्स्वेन भागेन सर्वात्मा सर्वभागभुक् ।

दक्षं बभाष आभाष्य प्रीयमाण इवानघ ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान् विष्णु; स्वेन—अपने से; भागेन—अंश (भाग) से; सर्व-आत्मा—समस्त जीवात्माओं का परमात्मा; सर्व-भाग-भुक्—समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता; दक्षम्—दक्ष; बभाषे—कहा; आभाष्य—सम्बोधित करके; प्रीयमाणः—प्रसन्न; इव—सदृश; अनघ—हे पापरहित विदुर।

मैत्रेय ने आगे कहा : हे पापमुक्त विदुर, भगवान् विष्णु ही वास्तव में समस्त यज्ञों के फल के भोक्ता हैं। फिर भी समस्त जीवात्माओं के परमात्मा होने से वे अपना यज्ञ-भाग प्राप्त हो जाने से प्रसन्न हो गये, अतः उन्होंने प्रमुदित भाव से दक्ष को सम्बोधित किया।

तात्पर्य : भगवद्गीता (५.२९) में कहा गया है— भोक्तां यज्ञ तपसाम्—भगवान् विष्णु अथवा कृष्ण यज्ञ तथा तप के समस्त फलों के परमभोक्ता हैं। इनमें से कोई भी अपने को चाहे जिसमें प्रवृत्त करे, अन्तिम लक्ष्य तो विष्णु ही होता है। यदि कोई यह नहीं जानता है, तो वह पथच्युत है। भगवान् होने के कारण विष्णु को किसी से कुछ नहीं चाहिए। वे आत्म-तुष्ट, आत्म-निर्भर हैं, किन्तु वे यज्ञ की भेंट इसलिए स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने वाले हैं। जब उन्हें उनका यज्ञ-भाग प्राप्त हो गया तो वे परम प्रसन्न दिखे। भगवद्गीता (९.२६) में कहा गया है— पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति—यदि कोई भक्त भगवान् को केवल पत्र, पुष्प या जल अर्पित करता है और यदि यह प्रेम और श्रद्धा के साथ अर्पित किया जाता है, तो भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और प्रसन्न हो जाते हैं। यद्यपि वे आत्म-निर्भर हैं और उन्हें किसी से कुछ नहीं चाहिए, किन्तु वे ऐसी भेंटें स्वीकार करते हैं, क्योंकि परमात्मा होने के कारण समस्त जीवात्माओं के प्रति उनका मैत्री-भाव रहता है। दूसरी बात यह है कि वे किसी दूसरे के भाग को नहीं हड़पते। यज्ञ में शिव, ब्रह्मा तथा अन्य

देवताओं का भाग होता है और भगवान् विष्णु का भी एक भाग होता है। वे अपने भाग से ही संतुष्ट रहते हैं और किसी अन्य का भाग नहीं हड़पते। अप्रत्यक्ष रूप में, उन्होंने दक्ष को यह बता दिया कि वे शिव का भाग उन्हें न दिये जाने से सन्तुष्ट नहीं थे। मैत्रेय ने विदुर को पापहीन कहा है क्योंकि विदुर शुद्ध वैष्णव थे और उन्होंने किसी भी देवता के प्रति कोई अपराध नहीं किया था। यद्यपि वैष्णव विष्णु को ही परम मानते हैं, किन्तु वे अन्य देवताओं का अपमान नहीं करते। वे देवताओं का समुचित आदर करते हैं। वैष्णवजन शिव को सर्वश्रेष्ठ वैष्णव मानते हैं। वैष्णवों के द्वारा किसी भी देवता के अपमानित होने की सम्भावना नहीं रहती और देवता भी वैष्णवों से प्रसन्न रहते हैं क्योंकि वे भगवान् विष्णु के दोषहीन भक्त होते हैं।

श्रीभगवानुवाच

अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम् ।

आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयन्दृगविशेषणः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान्—भगवान् विष्णु ने; उवाच—कहा; अहम्—मैं; ब्रह्मा—ब्रह्मा; च—तथा; शर्वः—शिव; च—तथा; जगतः—दृश्य जगत का; कारणम्—कारण; परम्—परम; आत्म-ईश्वरः—परमात्मा; उपद्रष्टा—साक्षी; स्वयम्-दृक्—आत्म-निर्भर; अविशेषणः—भेदरहित।

भगवान् विष्णु ने उत्तर दिया ब्रह्मा, शिव तथा मैं इस दृश्य जगत के परम कारण हैं। मैं परमात्मा, स्वःनिर्भर साक्षी हूँ। किन्तु निर्गुण-निराकार रूप में ब्रह्मा, शिव तथा मुझमें कोई अन्तर नहीं है।

तात्पर्य : ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के दिव्य शरीर से हुई और शिव का जन्म ब्रह्मा के शरीर से हुआ। अतः भगवान् विष्णु परम कारण हैं। वेदों में भी वर्णित है कि प्रारम्भ में केवल विष्णु या नारायण थे; ब्रह्मा या शिव नहीं थे। इसी प्रकार से शंकराचार्य ने भी पुष्टि की है—*नारायणः परः*—नारायण अर्थात् भगवान् विष्णु मूल रूप हैं और ब्रह्मा तथा शिव सृष्टि के बाद प्रकट हुए। भगवान् विष्णु *आत्मेश्वर* अर्थात् सबों में स्थित परमात्मा भी हैं। उन्हीं के निर्देश से अन्तः कारण से प्रत्येक वस्तु प्रेरित होती है। उदाहरणार्थ, *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा*—उन्होंने पहले अन्तः से ब्रह्मा को शिक्षा दी।

भगवद्गीता (१०.२) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—अहं आदिर्हि देवानाम्—भगवान् विष्णु या कृष्ण ब्रह्मा तथा शिव समेत समस्त देवताओं के मूल हैं। एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण भगवद्गीता (१०.८) में कहते हैं—अहं सर्वस्य प्रभवः—मुझसे हर वस्तु उत्पन्न है। इसमें सभी देवता भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार वेदान्त-सूत्र में—जन्माद्यस्य यतः और उपनिषदों का कथन है—यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। भगवान् विष्णु अपनी शक्ति से प्रत्येक वस्तु को उत्पन्न करने वाले, उसके पालन करने वाले और संहार करने वाले हैं। इस प्रकार इनकी शक्तियाँ एक दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा इस दृश्य संसार का सृजन करती हैं और सम्पूर्ण सृष्टि लय भी कर देती हैं। इस प्रकार भगवान् कारण हैं और करण भी हैं। हम जो भी प्रभाव देखते हैं वह उनकी शक्ति की प्रतिक्रिया है और चूँकि शक्ति उन्हीं से उद्भूत है, अतः वे कारण और करण (कार्य) दोनों ही हैं। एक ही समय में प्रत्येक से प्रत्येक वस्तु भिन्न है और समान भी है। कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म—सर्वोच्च चिन्तन में ब्रह्म से परे कुछ नहीं, अतः ब्रह्मा तथा शिव भी उनसे अभिन्न हैं।

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।

सृजन्नक्षन्हरन्विश्वं दधे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

आत्म-मायाम्—अपनी शक्ति में; समाविश्य—प्रवेश करके; सः—स्वयं; अहम्—मैं; गुण-मयीम्—प्राकृतिक गुणों से युक्त; द्वि-ज—हे द्विजन्मा दक्ष; सृजन्—सृष्टि करते हुए; रक्षन्—पालन करते हुए; हरन्—संहार करते हुए; विश्वम्—दृश्य जगत; दधे—मैं उत्पन्न होता हूँ; संज्ञाम्—नाम; क्रिया-उचिताम्—क्रिया के अनुसार।

भगवान् ने कहा : हे दक्ष द्विज, मैं आदि भगवान् हूँ, किन्तु इस दृश्य जगत की सृष्टि, पालन तथा संहार के लिए मैं अपनी भौतिक शक्ति के माध्यम से कार्य करता हूँ और कार्य की भिन्न कोटियों के अनुसार मेरे भिन्न-भिन्न नाम हैं।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (७.५) में बतलाया गया है—जीवभूतां महाबाहो—यह सारा विश्व भगवान् से निकली हुई शक्ति है और वे परा तथा अपरा शक्तियों के रूप में कार्य करते हैं। परा शक्ति जीवात्मा है, जो परमेश्वर का भिन्न अंश है। अंश होने के नाते जीवात्माँ परमेश्वर से भिन्न नहीं हैं; उनसे निकली हुई शक्ति उनसे भिन्न नहीं है। किन्तु इस भौतिक जगत में वास्तविक क्रियाकलाप में प्रकृति के विभिन्न गुणों वाली तथा विभिन्न रूपों की शक्तियाँ जीवात्मा को प्रभावित करती हैं। कुल चौरासी लाख

योनियाँ हैं। वही जीवात्मा प्रकृति के विभिन्न गुणों के अन्तर्गत कार्य करता है। इन जीवात्माओं के भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं, किन्तु सृष्टि के आदि काल में भगवान् विष्णु अकेले थे। सृष्टि करने के उद्देश्य से ब्रह्मा प्रकट हुए और संहार करने के लिए शिव। जहाँ तक इस संसार में आध्यात्मिक प्रवेश करने की बात है, सभी जीव परमेश्वर के विभिन्न अंश हैं, किन्तु विभिन्न भौतिक गुणों के आवरण में उनके नाम भिन्न-भिन्न पड़ गये हैं। ब्रह्मा तथा शिव विष्णु के गुण-अवतार हैं और उनसे मिलकर विष्णु सतो गुण का भार सँभालते हैं, अतः विष्णु भी शिव तथा ब्रह्मा के समान गुण-अवतार हैं। वस्तुतः विभिन्न नाम विभिन्न आदेशों के लिए है, अन्यथा उनका मूल तो एक ही है।

तस्मिन्ब्रह्मण्यद्वितीये केवले परमात्मनि ।

ब्रह्मरुद्रौ च भूतानि भेदेनाज्ञोऽनुपश्यति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसको; ब्रह्मणि—परब्रह्म; अद्वितीये—अद्वितीय; केवले—अकेला; परम-आत्मनि—परमात्मा; ब्रह्म-रुद्रौ—ब्रह्मा तथा शिव दोनों; च—तथा; भूतानि—जीवात्माएँ; भेदेन—विलगाव से; अज्ञः—नादान, अज्ञानी; अनुपश्यति—सोचता है।

भगवान् ने आगे कहा : जिसे समुचित ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओं को स्वतंत्र समझता है या वह यह भी सोचता है कि जीवात्माएँ भी स्वतंत्र हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा समेत सभी जीवात्माएँ स्वतंत्र रूप से पृथक् नहीं हैं, वरन् इन्हें परमेश्वर की तटस्था शक्ति के अन्तर्गत माना जाता है। प्रत्येक जीवात्मा का, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, परमात्मा होने के कारण परमेश्वर त्रिगुणात्मक कार्यों में सबों को निर्देशित करता है। कोई भी जीव उनकी स्वीकृति के बिना स्वतंत्र रूप से कोई कार्य नहीं कर सकता, और अप्रत्यक्षतः कोई भी जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है यहाँ तक कि ब्रह्मा और रुद्र भी नहीं, जो भौतिक प्रकृति के क्रमशः रजो तथा तमो गुणों के अवतार हैं।

यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित् ।

पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुमान्—पुरुष; न—नहीं; स्व-अङ्गेषु—अपने ही शरीर में; शिरः-पाणि-आदिषु—सिर, हाथ तथा शरीर के अन्य भागों में; क्वचित्—कभी-कभी; पारक्य-बुद्धिम्—अन्तर; कुरुते—करते हैं; एवम्—इस प्रकार; भूतेषु—जीवात्माओं में; मत्-परः—मेरा भक्त।

सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति सिर तथा शरीर के अन्य भागों को पृथक्-पृथक् नहीं मानता। इसी प्रकार मेरे भक्त सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तथा किसी वस्तु या किसी जीवात्मा में अन्तर नहीं मानते।

तात्पर्य : जब शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो पूरा शरीर उस भाग की रखवाली करता है। इसी प्रकार भक्त द्वारा समस्त बद्धजीवों पर दया करना भक्त की एकात्मकता प्रकट करता है। *भगवद्गीता* (५.१८) कहती है—*पण्डिताः समदर्शिनः* अर्थात् जो विद्वान् हैं, वे प्रत्येक बद्धजीव को समभाव से देखते हैं। भक्त प्रत्येक बद्धजीव पर दया करने वाले हैं, अतः उन्हें *अपारक्य-बुद्धि* कहते हैं। चूँकि भक्तगण विद्वान् होते हैं और जानते हैं कि जीवात्मा परमेश्वर का भिन्न अंश है, अतः वे प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभक्ति का पाठ पढ़ाते हैं जिससे वे सुखी रह सकें। यदि शरीर का कोई भाग रुग्ण होता है, तो शरीर का सारा ध्यान उसी ओर लगा रहता है। इसी प्रकार से भक्तगण किसी भी ऐसे व्यक्ति का, जो कृष्ण को भूल बैठा है और फलस्वरूप भौतिक चेतना में खोया है, ध्यान रखते हैं। भक्त की समान-दृष्टि इसी में है कि वह समस्त जीवात्माओं को भगवान् के धाम जाने में सहायता पहुँचाता है।

त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम् ।
सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

त्रयाणाम्—तीनों का; एक-भावानाम्—एक ही स्वभाव वाले; यः—जो; न पश्यति—नहीं देखता; वै—निश्चय ही; भिदाम्—पृथक्ता; सर्व-भूत-आत्मनाम्—समस्त जीवात्माओं के परमात्मा का; ब्रह्मन्—हे दक्ष; सः—वह; शान्तिम्—शान्ति; अधिगच्छति—प्राप्त करता है।

भगवान् ने आगे कहा : जो मनुष्य ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जीवात्माओं को परब्रह्म से पृथक् नहीं मानता और ब्रह्म को जानता है, वही वास्तव में शान्ति प्राप्त करता है, अन्य नहीं।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। *त्रयाणाम्* 'तीन' का सूचक है, जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु सम्मिलित हैं। *भिदाम्* का अर्थ है "पृथक्।" वे तीन हैं, अतः पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु साथ ही वे तीनों एक हैं। यह एक साथ एकत्व तथा पृथकत्व का दर्शन है, जो *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* कहलाता है। *ब्रह्म संहिता* में उदाहरण दिया गया है कि दूध तथा मट्टा एक ही साथ एक तथा भिन्न हैं—दोनों दूध हैं, किन्तु मट्टा बदल गया है। वास्तविक शान्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को

चाहिए कि प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीवात्मा को, जिसमें ब्रह्मा तथा शिव भी सम्मिलित हैं, भगवान् से अभिन्न माने। कोई स्वतंत्र नहीं है। हममें से हर एक भगवान् का विस्तार है। इसीसे विविधता में एकता सिद्ध है। यद्यपि अवतार अनेक होते हैं, किन्तु साथ ही वे विष्णु के ही हैं। प्रत्येक वस्तु विष्णु की शक्ति का विस्तार है।

मैत्रेय उवाच

एवं भगवतादिष्टः प्रजापतिपतिर्हरिम् ।
अर्चित्वा क्रतुना स्वेन देवानुभयतोऽयजत् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; भगवता—भगवान् द्वारा; आदिष्टः—आदेश दिया जाकर; प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के प्रधान; हरिम्—हरि की; अर्चित्वा—पूजा करके; क्रतुना—यज्ञोत्सव से; स्वेन—अपना; देवान्—देवताओं की; उभयतः—पृथक्-पृथक्; अयजत्—पूजा की।

मैत्रेय मुनि ने कहा : इस प्रकार भगवान् से भलीभाँति आदेश पाकर समस्त प्रजापतियों के प्रधान दक्ष ने भगवान् विष्णु की पूजा की। यज्ञोत्सव के लिए स्वीकृत विधि से उनकी पूजा करने के अनन्तर उसने ब्रह्मा तथा शिव की भी अलग-अलग पूजा की।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु को ही सब कुछ अर्पित करना चाहिए और उनके प्रसाद को समस्त देवताओं में वितरित चाहिए। आज भी पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर में यह प्रथा चालू है। मुख्य जगन्नाथ मन्दिर के चारों ओर देवताओं के अनेक मन्दिर हैं और सर्वप्रथम जो प्रसाद जगन्नाथ जी में चढ़ता है, वही समस्त देवताओं में वितरित कर दिया जाता है। विष्णु के प्रसाद से 'भगालिन' की पूजा की जाती है और भुवनेश्वर के प्रसिद्ध शिव मन्दिर में विष्णु या जगन्नाथ जी का प्रसाद शिव के विग्रह को चढ़ाया जाता है। यही वैष्णव नियम है। वैष्णव एक सामान्य जीव का, यहाँ तक कि चींटी तक का, उपहास नहीं करता, सबको उसके पद के अनुसार सम्मान प्रदान करता है। किन्तु यह भेंट श्रीभगवान् कृष्ण अथवा विष्णु को केन्द्र मान कर चढ़ाई जाती है। जो भक्त अत्यधिक उच्चस्थ हो चुका है, वह प्रत्येक वस्तु के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध देखता है, वह किसी भी वस्तु को कृष्ण से स्वतंत्र नहीं देखता है। यही एकत्व की दृष्टि है।

रुद्रं च स्वेन भागेन ह्युपाधावत्समाहितः
कर्मणोदवसानेन सोमपानितरानपि ।
उदवस्य सहर्त्विग्भिः सस्नाववभृथं ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

रुद्रम्—शिव को; च—तथा; स्वेन—अपने; भागेन—भाग से; हि—चूँकि; उपाधावत्—पूजा की; समाहितः—ध्यानस्थ होकर; कर्मणा—कर्म से; उदवसानेन—समाप्त करने के कार्य द्वारा; सोम-पान्—देवता; इतरान्—अन्य; अपि—भी; उदवस्य—समाप्त करके; सह—साथ-साथ; ऋत्विग्भिः—पुरोहितों के साथ; सस्नौ—स्नान किया; अवभृथम्—अवभृथ-स्नान; ततः—तब।

दक्ष ने सभी प्रकार से सम्मान पूर्वक यज्ञ के शेष भाग के साथ शिव की पूजा की। याज्ञिक अनुष्ठानों की समाप्ति के पश्चात् उसने अन्य समस्त देवों तथा वहाँ पर एकत्र अन्य जनों को संतुष्ट किया। तब पुरोहितों के साथ-साथ इन सारे कर्तव्यों को सम्पन्न करके उसने स्नान किया और वह पूर्णतया संतुष्ट हुआ।

तात्पर्य : यज्ञ के शेष भाग द्वारा रुद्र की समुचित विधि से पूजा की गई। यज्ञ ही विष्णु है और जो भी प्रसाद विष्णु को अर्पित किया जाता है, वह सबों को, यहाँ तक कि शिव को भी दे दिया जाता है। इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की भी टीका है—स्वेन भागेन—यज्ञ के अवशेष को समस्त देवताओं तथा अन्यो को दिया जाता है।

तस्मा अप्यनुभावेन स्वेनैवावाप्तराधसे ।
धर्म एव मतिं दत्त्वा त्रिदशास्ते दिवं ययुः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

तस्मै—उस (दक्ष) को; अपि—ही; अनुभावेन—परमेश्वर की पूजा द्वारा; स्वेन—अपने से; एव—निश्चय ही; अवाप्त-राधसे—सिद्धि प्राप्त करके; धर्मे—धर्म में; एव—निश्चय ही; मतिम्—बुद्धि; दत्त्वा—देकर; त्रिदशाः—देवता; ते—वे; दिवम्—स्वर्गलोक को; ययुः—चले गये।

इस प्रकार यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा विष्णु की पूजा करके दक्ष पूर्ण रूप से धार्मिक पथ पर स्थित हो गया। इसके साथ ही, यज्ञ में समागत समस्त देवताओं ने उसे आशीर्वाद दिया कि 'धर्मनिष्ठ हो' और तब वे चले गये।

तात्पर्य : यद्यपि दक्ष धर्म में काफी बढ़ा-चढ़ा था, किन्तु उसे देवताओं के आशीर्वाद की प्रतीक्षा थी। इस प्रकार दक्ष द्वारा चलाया गया यज्ञ शान्ति तथा सौहार्दपूर्वक पूर्ण हुआ।

एवं दाक्षायणी हित्वा सती पूर्वकलेवरम् ।
जज्ञे हिमवतः क्षेत्रे मेनायामिति शुश्रुम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; हित्वा—त्याग कर; सती—सती; पूर्व-कलेवरम्—अपना पहले का शरीर;
जज्ञे—उत्पन्न हुई; हिमवतः—हिमालय के; क्षेत्रे—पत्नी (के गर्भ) में; मेनायाम्—मेना में; इति—इस प्रकार; शुश्रुम्—मैंने सुना है।

मैत्रेय ने कहा : मैंने सुना है कि दक्ष से प्राप्त शरीर को त्याग देने के पश्चात् दाक्षायणी (दक्ष की पुत्री) ने हिमालय के राज्य में जन्म लिया। वह मेना की पुत्री के रूप में जन्मी। इसे मैंने प्रामाणिक स्रोतों से सुना है।

तात्पर्य : मेना को मेनका भी कहते हैं। वह हिमालय के राजा की पत्नी थी।

तमेव दयितं भूय आवृङ्गे पतिमम्बिका ।
अनन्यभावैकगतिं शक्तिः सुप्तेव पूरुषम् ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस (शिव) को; एव—निश्चय ही; दयितम्—प्रिया; भूयः—पुनः; आवृङ्गे—स्वीकार किया; पतिम्—पति रूप में;
अम्बिका—अम्बिका या सती; अनन्य-भावा—अन्यों से अलिप्त; एक-गतिम्—एक लक्ष्य; शक्तिः—(तटस्था तथा बाह्य),
स्त्री शक्तियाँ; सुप्ता—निष्क्रिय; इव—सदृश; पूरुषम्—पुरुष (परमेश्वर के प्रतिनिधि के रूप में शिव)।

अम्बिका (देवी दुर्गा) ने, जो दाक्षायणी (सती) कहलाती थीं, पुनः शिव को अपने पति के रूप में स्वीकार किया, जिस प्रकार कि भगवान् की विभिन्न शक्तियाँ नवीन सृष्टि के समय कार्य करती हैं।

तात्पर्य : परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते—इस वैदिक मंत्र के अनुसार भगवान् की अनेक शक्तियाँ होती हैं। शक्ति स्त्री है और भगवान् पुरुष हैं। स्त्री का धर्म है कि वह पुरुष के अधीन सेवा करे। जैसाकि भगवद्गीता में कहा गया है—सभी जीवात्माएँ भगवान् की तटस्था शक्तियाँ हैं। अतः समस्त जीवात्माओं का कर्तव्य है कि वे इस परम पुरुष की सेवा करें। इस भौतिक जगत् में दुर्गा तटस्था तथा बहिरंगा दोनों ही शक्तियों की प्रतीक हैं और शिव परम पुरुष के प्रतीक हैं। शिव तथा अम्बिका या दुर्गा का सम्बन्ध शाश्वत है। सती शिव के अतिरिक्त अन्य को पति स्वीकार नहीं कर सकती थी। आगे जिस प्रकार शिव ने दुर्गा या हिमालय की कन्या हिमवती के साथ विवाह किया और कार्तिकेय का जन्म हुआ, वह अपने आप में एक लम्बी कथा है।

एतद्भगवतः शम्भोः कर्म दक्षाध्वरद्रुहः ।
श्रुतं भागवताच्छिष्यादुद्धवान्मे बृहस्पतेः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवतः—समस्त ऐश्वर्य के स्वामी; शम्भोः—शम्भु (शिव) का; कर्म—कथा; दक्ष-अध्वर-द्रुहः—जिसने दक्ष के यज्ञ का विध्वंस किया; श्रुतम्—सुना गया; भागवतात्—परम भक्त से; शिष्यात्—शिष्य से; उद्धवात्—उद्धव से; मे—मेरे द्वारा; बृहस्पतेः—बृहस्पति के ।

मैत्रेय ने कहा : हे विदुर, मैंने परम भक्त एवं बृहस्पति के शिष्य उद्धव से शिव द्वारा ध्वंस किये गये दक्ष-यज्ञ की यह कथा सुनी थी ।

इदं पवित्रं परमीशचेष्टितं
यशस्यमायुष्यमघौघमर्षणम् ।
यो नित्यदाकर्ण्य नरोऽनुकीर्तयेद्
धुनोत्यघं कौरव भक्तिभावतः ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

इदम्—यह; पवित्रम्—शुद्ध; परम्—परम; ईश-चेष्टितम्—परमेश्वर की लीलाएँ; यशस्यम्—यश; आयुष्यम्—दीर्घ जीवनकाल; अघ-ओघ-मर्षणम्—पापों का विनाश; यः—जो; नित्यदा—सदैव; आकर्ण्य—सुनकर; नरः—मनुष्य; अनुकीर्तयेत्—सुनावे; धुनोति—धो देता है; अघम्—भौतिक दूषण; कौरव—हे कुरुवंशी; भक्ति-भावतः—श्रद्धा तथा भक्ति के साथ ।

मैत्रेय मुनि ने अन्त में कहा : हे कुरुनन्दन, यदि कोई भगवान् विष्णु द्वारा संचालित दक्ष-यज्ञ की यह कथा श्रद्धा एवं भक्ति के साथ सुनता है और इसे फिर से सुनाता है, तो वह निश्चय ही इस संसार के समस्त कल्मष से विमल हो जाता है ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “दक्ष द्वारा यज्ञ की समाप्ति” नामक सातवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए ।